Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों का अध्ययन

विनोबा

सस्ता
साहित्य मण्डल
प्रकाशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तकालय

गुरूकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या .... आगत संख्या.............

पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि
हेत 30 वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी
ए अन्यथा 50 पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड
ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विनोबा

१९६१
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

Gurukul Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय,
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली।

P. R. T. C. Library
Gurukula Kangri (Hardwar)
Class No. 2६४.४ ५
Book No. व १२३
Acc. No.

दूसरा संस्करण : १९६१
मूल्य
सवा रुपया

मुद्रक
भारत-मुद्रणालय,
शाहदरा-दिल्ली।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशकीय

विनोबाजी ने आध्यात्मिक साहित्य का बड़ी गहराई से अध्ययन किया है और अपने स्वतन्त्र चिन्तन से कई ग्रन्थों का सार बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके 'गीता-प्रवचन' को तो बहुत ही पसन्द किया गया है। भारत की कई भाषाओं में उसके अनुवाद हुए हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में उपनिषदों पर विनोबाजी के चार विवेचनात्मक लेखों का संग्रह है। उपनिषद ज्ञान का अगाध सागर है। उसमें गहरे पैठकर भारतीय तत्त्व-दर्शन की अक्षय निधि निकालकर विनोबाजी ने पाठकों के लिए सुलभ की है। यह पुस्तक वस्तुतः उनके गूढ़ चिन्तन का फल है और उनका मौलिक चिन्तन इसमें स्पष्ट दिखाई देता है।

आशा है, पाठक इस पुस्तक के पठन और मनन से लाभ उठावेंगे।

—मंत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तावना

सन् १९२३ में 'महाराष्ट्र धर्म' मासिक में 'उपनिषदांचा अभ्यास' (उपनिषदों का अध्ययन) शीर्षक चार लेख मैंने लिखे थे। उन्हीं लेखों का इस पुस्तक में संकलन किया गया है। यह 'उपनिषदों का अध्ययन' प्रस्तावना-खण्ड होने पर भी अपने-आपमें पूर्ण है। इसमें से उपनिषदों की ओर देखने की दृष्टि मिल सकती है।

प्रस्तुत संकलन तैयार करने से पहले मैं चारों लेखों को देख गया हूं। विचार की दृष्टि से एक जगह संशोधन की आवश्यकता जान पड़ी थी, और उतना संशोधन कर दिया है। बाकी सारा विवेचन पूर्ववत् है। भाषा भी ज्यों-की-त्यों रखी गई है। दो जगह सिर्फ दो शब्द बदले हैं। भाषा कुछ कठिन मालूम होगी। आज यदि मैं लिखने बैठूं तो शायद दूसरी ही शैली में लिखता। लेकिन विषय को ध्यान में रखें तो जो भाषा बरती गई है वह अनुचित नहीं कही जा सकती। उसका प्रवाह और स्फूर्ति हृदय को स्पर्श करनेवाली है।

उपनिषदों की महिमा अनेकों ने गाई है। कवि ने कहा है कि हिमालय जैसा पर्वत नहीं और उपनिषदों जैसी पुस्तक नहीं है। परन्तु मेरी दृष्टि में उपनिषद् पुस्तक है ही नहीं; वह तो एक प्रातिभ-दर्शन है। उस दर्शन को यद्यपि शब्दों में अंकित करने का प्रयत्न किया गया है, फिर भी शब्दों के कदम लड़खड़ा गये हैं। परन्तु सिर्फ निष्ठा के चिह्न उभरे हैं। उस निष्ठा को हृदय में भरकर, शब्दों की सहायता से शब्दों को दूर हटाकर, अनुभव किया जाय तभी उपनिषदों का बोध हो सकता है।

मेरे जीवन में गीता ने मां का स्थान लिया है। वह स्थान तो उसीका है। लेकिन मैं जानता हूं कि उपनिषद् मेरी मां की मां है। उसी श्रद्धा से उपनिषदों का मेरा मनन-निदिध्यासन पिछले बत्तीस वर्षों से चल रहा है। उसकी एक बूंद इस चतुराध्यायी में है। सज्जनों के लिए वह आनन्द देनेवाली हो !

परंधाम, पवनार

३-६-४६

विनोबा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

१.	ॐ	७
२.	शान्ति	२८
३.	ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः	५०
४.	परमार्थ की प्रस्थान-त्रयी	६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपनिषदों का अध्ययन

: १ :

ॐ

१

भगवद्गीता में कहा गया है कि 'ॐ तत् सत्' ब्रह्म का तिहेरा निर्देश है और इन तीन रूपों से परमात्मा सृष्टि में व्याप्त है। इनमें से 'ॐ' एक गूढ़ संकेत है। उससे किसी भी लौकिक अर्थ का बोध नहीं हो सकता। इसलिए अलौकिक, वैदिक या पारमार्थिक कर्म में ईश्वर का स्वरूप सुझाने के लिए यह एक अच्छा चिह्न या संज्ञा है। इसी कारण से ब्रह्मवेत्ता ऋषि स्वाध्याय, यज्ञ, दान, तप और सभी वैदिक या पारमार्थिक कर्म ॐकार के उच्च घोष से शुरू करते थे। 'तत्' शब्द का अर्थ है 'वह'—यानी 'यह' या 'मेरा' नहीं, 'इदं न मम'। इसलिए इस शब्द से परार्थ अथवा निष्काम कर्म का बोध होता है और ऐसे कर्म में भगवान् का अधिष्ठान सूचित होता है। उसी तरह से, 'सत्' शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से नैतिक (प्रशस्त) कर्म के लिए होता है। इसलिए यह शब्द ऐसे सत्कर्मों या सद्भावनाओं का पर्यायवाची है, जो (कर्म) स्वार्थपूर्ण होने पर भी नीति के विरुद्ध नहीं होते, या जो इच्छाएं धर्म में बाधक नहीं होतीं। यह शब्द नीतियुक्त कर्म में ईश्वर की सहायता सुझाता है। इस प्रकार से इस तिहेरे निर्देश में से ये तीन अर्थ सूचित होते हैं कि पारमार्थिक कर्म ईश्वरार्पण वृत्ति से हों; परार्थ में निष्काम भावना रखी जाय और स्वार्थ भी नीतियुक्त या विवेकपूर्ण होना चाहिएं। स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ अथवा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इहलोक, परलोक और मोक्ष इन तीनों सीढ़ियों का समावेश ॐ तत्सत् ब्रह्म-निर्देश में हैं। साथ ही वैदिक धर्म का समूचा सार उसमें संकलित रूप में आ सकता है। किन्तु नीति-युक्त स्वार्थ ही परार्थ या परमार्थ भी हो सकता है। इससे उलटे निष्काम परार्थ में परमार्थ के साथ समझदारी से किये स्वार्थ के लिए भी जगह रहती है। उसी प्रकार से यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि ईश्वरार्पण-पूर्वक किया गया परमार्थ परार्थ या विवेकपूर्ण स्वार्थ में बाधक नहीं होता। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस तिहेरे निर्देश में से "ईश्वरार्पणपूर्वक (ॐ) निष्काम (तत्) सत्कर्म (सत्) कीजिये" ऐसा सर्वाङ्ग-सुन्दर एकार्थवाची, समन्वयात्मक अर्थ भगवान् ने व्यक्त किया है। (गीता, अ. १७, २३-२७)

लेकिन जिस तर्क से तिहेरे निर्देश में से इकहरा अर्थ निष्पन्न हुआ, उसीके सहारे प्रत्यक्ष उस तिहेरे निर्देश को ही इकहरा रूप दिया जा सकता है, इसलिए 'ॐ' के मूल इकहरे गूढ़, वैदिक निर्देश को निश्चित मानकर समूचे 'ॐ तत्सत्' निर्देश का समावेश उसीमें कर लिया जाता है। ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से ॐ निर्देश चूंकि प्राचीनतर है, इसलिए उसकी व्याख्या करने के उद्देश्य से ही ॐ तत्सत् निर्देश उत्पन्न हुआ था। अपना काम पूरा करके पुनः मूल निर्देश में ही वह विलीन हो गया। विलीन होते समय उसके लिए जिस तर्क की आवश्यकता हुई वह ऊपर दिया गया है। इस तर्क के अनुसार पहले वैदिक कर्मों के आरम्भ में काम में आनेवाले मन्त्र का लौकिक-वैदिक सभी कर्मों के आरम्भ में उच्चारण करने का रिवाज पड़ गया। पद या पदार्थ इन दोनों सृष्टियों के परे रहनेवाले ईश्वर को पद सृष्टि में लाने का पहला काम ॐकार ने किया। बाद में उसे पदार्थ-सृष्टि में लाने का काम गणपति की मूर्ति ने किया होगा, ऐसा कुछ लोगों का तर्क है। किसी-किसीका कहना है कि ॐकार में 'अकार' सूचक (उ) अंश के स्थान पर मस्तिष्क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कल्पना व आगे (ऽ) वक्राकृति की जगह सूंड की कल्पना करके या ऐसी ही कोई और दूसरी कल्पना करके गणपति का अवतार हुआ होगा। इसके बाद सब कामों के आरम्भ में इस नवीन अवतार का स्मरण होना स्वाभाविक है। ज्ञानेश्वर ने ऐसी ही कल्पना ज्ञानेश्वरी में दी है। ॐकार के अ, उ, म् यों तीन विभाग करके 'अ'-कार' की जगह पद्मासन, 'उ'-कार की जगह बड़ा पेट और 'म्'-कार की जगह वक्रतुंड, ऐसी उनकी रसमय कल्पना है।

अकार चरण युगल।
उकार उदर विशाल।
मकार महामंडल ।
मस्तकाकारें ।। (ज्ञा. १,१९)

इस तरह से किसी भी काम का 'ओनामा' या 'श्रीगणेश' हुआ। सारांश, किसी भी कार्य के आरंभ में, विशेषत: पारमार्थिक और उसमें भी वेदाभ्यास आदि स्वाध्याय की शुरुआत में ॐकार का स्मरण और चिंतन करने की वैदिकों की परंपरा है। उसीके अनुसार हम भी उपनिषदों का अध्ययन शुरू करने से पहले इसी गूढ़ मंत्र का विचार करनेवाले हैं।

'परोक्षप्रिया इव हि देवाः'—देवताओं को सांकेतिक भाषा प्रिय होती है। देवताओं का यह स्वभाव कहा गया है। देवता की श्रेणी में पहुंचे ऋषियों के लिए भी यही बात लागू है। उनकी वाणी प्रायः गूढ़ होती है। इसके कई कारण हो सकते हैं। अपना पवित्र अनुभव दुनिया के सामने रखते समय उसकी पवित्रता बनी रहे और अनधिकारी पुरुष को बुद्धिभेद भी न हो यह कारण रहा होगा। या जैसा कि तुलसीदासजी ने कहा है, जगत की दृष्टि से 'नीरस' प्रतीत होनेवाले अपने अनुभव को यदि 'रोचक' भाषा में कहें तो शायद संसार को वह अधिक जंचता है, यह विचार रहा हो। या हरेक के अपने अनुभव के लिए गुंजाइश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे और अपना अनुभव दूसरों पर लादा न जाय यह हेतु हो। या यह भी सोचा गया हो कि वही शिक्षण या काव्य उत्तम माना जाता है, जिसमें अर्थ सूचित या ध्वनित किया जाता है। एक और भी बात हो सकती है। नये-नये युग में नये-नये अर्थ स्फुरित करने की शक्ति कायम रहे, इसलिए भी उनकी वाणी ऐसी रही हो। ये सब लोकसंग्रहात्मक विचार ऋषियों के मन में शायद न भी आये हों, अतः इन असत् कारणों को छोड़ दें, फिर भी अनुभव की जिस भूमिका पर मौन के उपवास की पारणा सिर्फ एक 'नेति' मंत्र से हो सकता है, जहां ध्यान की आंखें मुंद जाती हैं, बुद्धि की बैसाखियां पंगु हो जाती हैं, ऐसी दिव्य भूमिका पर अनुभूत अनंत, अनुपम और स्वसंवेद्य अनुभव का स्पष्ट शब्दों में वर्णन करना शब्द-ब्रह्म की थाह पाये हुए परिणतप्रज्ञ कवियों की वाणी के लिए भी असंभव होता है, सिर्फ इसी एक कारण से ही क्यों न हो, ऋषि अपना अर्थ परोक्ष-रीति से, 'छन्दोमय' या 'ढके हुए' शब्दों में, दीर्घ मनन के बिना जहां प्रवेश ही नहीं पाया जा सकता, ऐसी 'मंत्रमय' भाषा के द्वारा केवल सूचित करने के सिवा और कुछ नहीं करते, या कर नहीं सकते। वेदों के ये मंत्रमय भाग हिमालय के जंगल जैसे दुर्गम हैं और ॐकार की गुफा उस दुर्गम वन का अत्यन्त विकट स्थान है। यहीं से आर्य-संस्कृति की पावन गंगा का उद्गम हुआ है। अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनों किनारों को छूती हुई पूरम-पूर बहनेवाली यह विश्वमाता ॐकार का स्निग्ध-गंभीर निर्घोष करती हुई, वैदिक ऋषियों के मधुर जीवन से, जड़ भारत को सचेतन करने के लिए अनादिकाल से एकसी बहती आ रही है। वैदिक ऋषियों के सारे मंगल स्मरण इस ॐकार की गूढ़ संज्ञा में समाये हुए हैं। ऋषियों का विश्व को संबोधित करते हुए यह दिव्य संदेश है। परब्रह्म की यह वाङ्मयी मूर्त्ति है। इस संदेश को समझना, इस मूर्त्ति की उपासना करना, हमारा कर्त्तव्य है। 'तुका म्हणे जें जें बोला, तें तें साजे या विट्ठला', तुकाराम कहते हैं कि हम जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ भी कहें, वह सब इस विट्ठल (भगवान्) को सोहता है। इस संत-वचन की तरह उपनिषदों के ऋषियों ने इस ॐ की एक से बढ़कर एक सराहना करने में अपनी वाणी को सार्थक माना है।

२

केनोपनिषद् में ॐकार का गौरव सूचित करनेवाली एक आख्यायिका कही गई है—

एक बार देवासुर-संग्राम में ब्रह्म ने देवताओं को जय प्राप्त करा दी। तब देवता गर्व से फूलकर कहने लगे—"यह हमारी ही विजय है, यह हमारी ही महिमा है।" उनकी यह गर्वोक्ति ब्रह्म के कानों तक पहुंची तो वह एक अद्भुत यक्ष का रूप धारण करके देवताओं के सामने प्रकट हुए। 'यह क्या बला है' कहकर वे विचार करने लगे, लेकिन कुछ भी पता नहीं चलता था। आखिर वे अग्नि से कहने लगे—

"हे सर्वज्ञ (जात-वेदस्) अग्निदेव, यह कौन-सा भूत (यक्ष) है?" अग्नि उस यक्ष के सामने उपस्थित हुआ।

"तू कौन?"

"मैं विश्व-विख्यात अग्नि हूं।"

"तुझमें कौन-सी शक्ति (वीर्य) है?"

"मैं पृथ्वी पर की हर चीज को जला सकता हूं।"

"तब जला यह तिनका," कहकर ब्रह्म ने एक घास का तिनका उसके सामने डाल दिया। लेकिन अपनी सारी शक्ति लगाने पर भी अग्नि उस तिनके को नहीं जला सका और अपना-सा मुंह लेकर देवताओं के पास लौट आया। फिर वायु की बारी आई। उसका भी वही हाल—

"तू कौन?"

"मैं माई का लाल (मातरि-श्वा) वायु।"

"तुझमें कौन-सी शक्ति है?"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मैं पृथ्वी पर की हर चीज को उड़ा सकता हूं।"

"तब उड़ा इस तिनके को," कहकर ब्रह्म ने वही तिनका वायु के सामने रख दिया। लेकिन उसका हाल भी अग्नि जैसा ही हुआ और वह भी वापस लौट गया। आखिर देवताओं ने सकल समृद्ध (मघवन्) इन्द्र से प्रार्थना की। वह ब्रह्म के सामने उपस्थित हुआ। इतने में यक्ष-रूपी ब्रह्म वहीं अंतर्धान हो गये। बाद में उसी आकाश में उसे तेज से जगमगाती हिमवान् की पुत्री देवी उमा दिखाई दी। इंद्र ने उससे उस यक्ष के बारे में प्रश्न किया। वह कहने लगी, "जिसके बल पर तुम्हें विजय प्राप्त हुई तथा बड़प्पन मिला वही यह साक्षात् ब्रह्म हैं।" उमादेवी के ये शब्द कानों में पड़ते ही उसकी बुद्धि में प्रकाश का उदय हुआ।

इन्द्र के हृदयाकाश में प्रकट हुई और उसे ब्रह्मोपदेश देने-वाली हिमालय की कन्या, शक्ति-पथ की आदिमाता, यह उमा कौन है? तेज से जगमगानेवाली इस उमा को भाष्यकारों ने विद्यादेवी कहा है। इन्द्र और यक्ष या जीव और शिव का मेल करानेवाली इस शक्ति को ब्रह्म-विद्या मान लेने में कोई हर्ज नहीं। लेकिन इस ब्रह्म-विद्या को 'उमा' कहने में कौन-सी विशेषता है? उपनिषदों में एक जगह कहा गया है कि ब्रह्म-विद्या के धनुष पर आत्मा का तीर रखा जाय तभी ब्रह्म को बेधा जा सकता है। इस दृष्टि से स्पष्ट है कि 'उमा' को 'ब्रह्म-विद्या' ही समझना चाहिए। लेकिन उपनिषद्कारों की पद्धति के अनुसार रूपक का यह गूढ़ अर्थ प्रकट करने के लिए इस शब्द में भी कुछ-न-कुछ कुंजी अवश्य रखी गई होगी। वह कौन-सी है? ॐकार कैसे बना है, इस ओर ध्यान दें तो वह समझ में आ जायगी। ॐ अ, उ, म् इन तीन अक्षरों के समवाय से बना है। इन्हीं अक्षरों को यदि अलग क्रम से लें और स्त्रीलिंग शब्द बनायें तो 'उमा' शब्द बनता है। इस प्रकार से 'उमा' शब्द से ॐकार और पर्याय से ब्रह्म-विद्या का सूचन होता है। ॐकार का चिंतन ब्रह्म-विद्या-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंदिर का गर्भ-गृह है। ॐकार के लिए ही दूसरा शब्द 'प्रणव' है। 'प्रणव' शब्द 'नु'—स्तुति करना—धातु को 'प्र' उपसर्ग जोड़कर बनाया गया है, इसलिए उसका अक्षरशः अर्थ है 'उत्तम स्तुति।' इस 'उत्तम स्तोत्र' के, प्रणव के, या ॐकार के आंतरिक चिंतन और बाह्य जप यह दोनों ब्रह्म-विद्या के आंतर-बाह्य दो अंग हैं, इसलिए 'उमा के वचन सुनने के बाद ही इन्द्र की बुद्धि में प्रकाश का उदय हुआ,' इस वाक्य का मर्म अब हम समझ सकते हैं। 'आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्'—आत्मा रूपी नीचे की लकड़ी और प्रणव या ॐकार रूपी ऊपर की लकड़ी, इन दो अरणियों के घर्षण से ज्ञानाग्नि उत्पन्न की जाय—इस वाक्य में या 'प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'—ॐकार धनुष है, आत्मा बाण है और ब्रह्म को लक्ष्य समझना चाहिए—इस वाक्य में भी ॐकाररूपिणी उमा की ही मध्यस्थता सूचित की गई है।

ॐकार की महिमा का वर्णन करनेवाली और एक आख्यायिका छांदोग्योपनिषद् में दी गई है।

"पीछा करनेवाली मृत्यु से डरकर देवताओं ने त्रयी-विद्या यानी वेदों के आच्छादन की शरण ली। इस प्रकार वेद चूंकि संसारत्रस्त मनुष्य के लिए छिपकर बैठने की जगह है अतएव उन्हें 'छंदस्' (छिपकर बैठने की गुप्त जगह) कहते हैं। लेकिन जैसे एक बगुला पानी में मछली को ढूंढ निकालता है, उसी प्रकार इस गुप्त जगह में भी मृत्यु ने जब देवताओं को पकड़ लिया, तब इस किले को भी छोड़कर उन्हें ॐकार के दुर्जेय किले (उर्ध्वाः) का आश्रय लेना पड़ा। इस किले पर मृत्यु की कोई ताकत नहीं चलती थी, इसलिए वहां जाने पर देवता मृत्यु के त्रास से मुक्त होकर निर्भय बने। जो इस ॐकार की उपासना करेगा, वह भी देवताओं के समान अमृत और अभय बनेगा।"

इस आख्यायिका में यह कहकर कि जो निर्भयता वेदों में भी नहीं है वह ॐकार में है, एक प्रकार से ॐकार की तुलना में वेदों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भी अधिक्षेप किया-सा जान पड़ता है। मुंडकोपनिषद् में भी विद्या के 'परा' यानी श्रेष्ठ और 'अपरा' यानी हीन ऐसे दो प्रकार करके ऋग्वेदादि चार वेद और व्याकरणादि छः वेदांगों का समावेश हलकी—अपरा—विद्या में किया है और जिसके 'योग' से वह एक अक्षर हासिल मान लिया जाता है उसे पराविद्या कहा गया है। चूंकि 'अ-क्षर' शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से अविनाशी होता है, इसलिए वह शब्द परब्रह्म का प्रतीक (चिह्न) हो सकता है। गीता के "ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म" वचन का यही अर्थ है और यह अक्षर न ह्रस्व है न दीर्घ ही, ऐसा आलंकारिक वर्णन मिलता है। जिसे यह अक्षर नहीं मालूम है, उसने वेदादि रट लिये हों या वह प्रगाढ़ वैयाकरणी और तार्किक हो तो भी उपनिषदों का कहना है कि उसे निरक्षर या अक्षर-शत्रु ही समझना चाहिए। और गीता में भी—'त्रयीविद्या के यानी वेदों के पीछे पड़े हुए लोग अधिक-से-अधिक स्वर्ग में जायंगे, लेकिन मोक्ष तो कभी पा नहीं सकते', 'आत्म-ज्ञान की गंगा में तैरनेवाले लोगों को वेदों की कीमत तुलना में एक पानीभरे गढ़े के समान है' या 'वेदों में तीन गुणों का ही घोल है, अतः तू उसमें मत उलझ,' इत्यादि—वेदों की हीनता बतानेवाले वचन आये हुए हैं। विश्वास और आदर की दृष्टि से सन्त-वचनों का विचार करनेवालों को इनका सीधा अर्थ समझ में आ सकता हो, फिर भी जिन विद्वानों का आर्य-संस्कृति से परिचय नहीं है और जो मुख्यतः ऐतिहासिक या आलोचनात्मक दृष्टि से ही वेदादिकों का 'परीक्षण' करते हैं उन लोगों के लिए इनका अर्थ समझना कठिन हो गया है। उनके मत के अनुसार, चूंकि जिस काल में वेदों के प्रति पूज्य बुद्धि घटने लगी थी, उस समय में उपनिषदों की रचना हुई, इसलिएं उपनिषदों के या उनके बाद के गीता आदि वेदान्त ग्रन्थों के तत्त्वज्ञान में वेदों के विरुद्ध एक विद्रोह है, और इन्हीं विद्रोहियों में से कुछ अतिवादी या उग्र लोगों ने आगे चलकर वेद-बाह्य माने जानेवाले बौद्ध और जैन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मों की स्थापना की। जबतक 'परीक्षण' की उद्धत वृत्ति रहेगी, तबतक धर्म-ग्रन्थों में से ऐसे मतों का निकलना अपरिहार्य है। 'करीं मस्तक ठेंगणा। लागें सन्तांच्या चरणा' (सिर झुकाकर सन्तों के चरणों में गिरना चाहिए), इस नम्र वृत्ति से ही ऋषि-वचनों का अध्ययन होना चाहिए। यदि आप ऋषियों से ज्यादा सयाने हों तो फिर आपके लिए ऋषियों के ग्रंथों का अध्ययन करने की आवश्यकता ही नहीं है। आपको ऋषियों के ग्रंथों में से कुछ भी जीवनोपयोगी पाथेय मिल सकेगा, ऐसा विश्वास हो तभी उनमें से कुछ हाथ लगेगा, अन्यथा शुष्क ऐतिहासिक कल्पनाओं के सिवा कुछ भी निष्पन्न न होगा। उपनिषदों का तत्त्वज्ञान वैदिक कल्पनाओं के खिलाफ विद्रोह है, इस विचार की जड़ में वेदों के दोष दिखानेवाले दो-चार वाक्य ही नहीं हैं, बल्कि यह धारणा है कि वेदों में कर्म-कांड के सिवा कुछ है ही नहीं। ऐसी हालत में जबतक हम इस धारणा का विचार नहीं करते, तबतक ऊपर बताये मत का निरसन नहीं होगा। यह धारणा मुख्यतः पाश्चात्य खोजियों की है और उसीको हमारे यहां के कई विद्वानों ने उठा लिया है। निरे ऐतिहासिक प्रमाण के अलावा दो अलग कारण इस धारणा की जड़ में दिखाई देते हैं : (१) सायणादि वेद-भाष्यकारों के एकांगी भाष्य, और (२) मनुष्य के पूर्वज जंगली थे यह विकासवादी कल्पना। इन दोनों कल्पनाओं पर विचार करना जरूरी है। फिर भी वह एक स्वतन्त्र लेख का विषय बन सकता है, इसलिए अभी इसे एक ओर रख दें और सहानुभूति या रसिकता की दृष्टि से देखें तो ऐसा जान पड़ेगा कि वेदों की ऐसी 'निन्दा' खुद वेदों में ही की गई है। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद के पहले मंडल में दीर्घतमस् ऋषि का निम्न मंत्र है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस् तन् न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस इमे समासते॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मंत्र श्वेताश्वतरोपनिषद् में सम्मिलित किया गया है। इसका भाव है—"जिस महान् अक्षर पर (यानी ॐकार पर) तमाम ऋचाओं की इमारत खड़ी की गई है, वह अक्षर जिसे नहीं मालूम वह ऋग्वेद को लेकर क्या करेगा ?" अब ऋग्वेद ही के समय में ऋग्वेद के ऋषि के मन में ऋग्वेद के प्रति पूज्य बुद्धि कम हो गई थी या उसे ऋग्वेद के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था, यह तो नहीं कहा जा सकता।

इस वेद-वाक्य से तो इतना ही अर्थ निकलता है कि ॐकार का सभी वेदों से अधिक महत्त्व है और स्पष्ट है कि यही बात उपनिषद् या गीता भी कहती है।

ऋषियों की कल्पना है कि ॐ अक्षर सभी 'वेदों का सार' और 'शास्त्रों की मूर्ति' है और यही बात उन्होंने अनेक स्थानों पर स्पष्टतः कही है। पृथिवी सभी भूतों का रस है, पृथिवी का रस आप, आपका रस ओषधि, ओषधि का रस पुरुष, और आगे वाक्, ऋक्, साम और अन्त में ॐ किंवा उद्-गीथ ऐसी छान्दोग्य के प्रारंभ में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रसों की परंपरा देकर, सात चलनियों से छना हुआ यह आठवां सर्वोत्तम रस है, ऐसा इस रस-शेखर का वर्णन किया है। मनुष्य और पशु के बीच का बाहरी फर्क वाणी के रूप में स्पष्ट दिखाई देता है। इसलिए वाक् पुरुष का रस है। वाचा का रस 'ऋक्' कहा गया है। ऋक्, यजुस्, साम क्रमशः ज्ञान, कर्म और भक्ति बतलानेवाले शब्द हैं। ऋक् शब्द, ऋ (ऋच्), धातु से उत्पन्न हुआ है। वह गति, ज्ञान, प्रकाश, इत्यादि को सूचित करता है। 'अर्क' यानी सूर्य। यह शब्द भी इसी परिवार का है। 'यजुस्' शब्द 'यज्' धातु से निकला है। उसका अर्थ 'निष्काम कर्म' (यज्ञ) होता है। 'साम' शब्द हृदयस्थ 'समता' का द्योतक है, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि 'सर्वेण समं तेन साम'—सबसे समान है अतः साम—ऐसी इसकी व्युत्पत्ति बताई गई है। 'भूतमात्रीं हरीविण। न पाहे चि दुजेपण' (भूतमात्र में हरि के बिना और दूसरा कुछ नहीं देखता)—ऐसी समता ही चूंकि भक्ति का स्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप है, इसलिए 'वेदानां सामवेदोऽस्मि'—सब वेदों में सामवेद मेरी विभूति है—ऐसा भगवान् ने कहा है, और उसी अर्थ में सामवेद को ऋग्वेद का 'रस' या सार कहा गया है। परंतु चूंकि इस साम में से या समत्व बुद्धि में से ॐकार का जन्म है, इसलिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि ॐकार सामवेद का निष्कर्ष अथवा रस है। सारांश, 'ऋक् साम यजुरेव च' तीनों जीवन के आद्यतत्त्व होने के कारण यद्यपि ईश्वर की विभूति हैं, या इन तीनों में साम का यानी समत्व बुद्धि का अधिक महत्त्व होने की वजह से सामवेद ही यद्यपि श्रेष्ठ विभूति है, फिर भी अंत में यही निश्चित होता है कि इस समत्व बुद्धि का भी मर्म, गीता के वचन 'प्रणवः सर्व-वेदेषु', के अनुसार, ॐकार है। वही वाङ्मय सृष्टि में ईश्वर का अंतिम रूप है। 'माधुर्यें चंद्रिका। सरिसी राया रंका' (चांदनी का माधुर्य राजा और रंक को समान रूप से मिलता है)—इस दृष्टांत के अनुसार सोम राजा को साम की उपमा दी जाय तो उसपर भी ॐकार की मुहर लगी हुई है। और आज भी उस मुहर के दर्शन सब लोगों को कलंक के रूप से होते हैं। इस ॐकार मुद्रा से अंकित होने के कारण ही शायद शंकर ने उसे अपने मस्तक पर धारण किया होगा।

३

अव्यक्त, ईश्वर और व्यक्त जगत् के बीचवाली श्रृंखला की कड़ी कुछ अव्यक्त और कुछ व्यक्त-सी होनी चाहिए। ॐकार ऐसी ही कड़ी है। वह अपने अ–उ–म् अवयवात्मक व्यक्त रूप से जगत् में व्याप्त है और ॐ इस संघातात्मक अव्यक्त रूप से ब्रह्म से जा मिला है। इसलिए उसका वर्णन करते समय ध्यानी मुनि "तुज सगुण म्हणों कीं निर्गुण रे"–तुझे सगुण कहूं या निर्गुण ?–की उलझन में फंस जाते हैं। 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'—यह सब ब्रह्म है—अथवा अ+उ+म्= ॐ ये दोनों समीकरण गाणितिक नहीं, बल्कि रासायनिक हैं। २+४=६ यह गणित का समीकरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चूना+हल्दी=लाल रंग यह रासायनिक समीकरण है। पहले समीकरण के पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष के बीच में साम्य-चिह्न (=) आत्यंतिक साम्य दिखाता है। दूसरे समीकरण में वैसी स्थिति नहीं है। उत्तर पक्ष का लाल रंग पूर्व पक्ष के दोनों पदार्थों के मिलने से बना हुआ हो, फिर भी उसका स्वतन्त्र गुण झलकता है, जो दोनों मूल पदार्थों में से एक में भी नहीं है। वैसी ही स्थिति अ+उ+म्=ॐ समीकरण की है। अ+उ+म् इन तीनों मात्राओं का ॐकार में समावेश होता है, फिर भी चूंकि ॐकार में उनसे कुछ-न-कुछ ज्यादा अर्थ गृहीत है, इसलिए ॐकार की साढ़े तीन मात्राएं मानी जातीं हैं। यह आधी मात्रा, पेशवाओं के जमाने के साढ़े तीन सयानों में आधे सयाने के भांति ही, अन्य तीनों मात्राओं से अधिक योग्यता की होने के कारण, जान पड़ता है, उसपर उन तीनों मात्राओं की कुछ भी मात्रा (वश) नहीं चलती।

इस प्रकार से इस समीकरण के पूर्व पक्ष में तीन मात्रा और उत्तर पक्ष में साढ़े तीन मात्राओं का जो थोड़ा-सा वैषम्य है उसका अधिक स्पष्टीकरण जरूरी है। यह समीकरण इतना वैषम्य कैसे सहता है, इसका विचार करने से पहले उसके सभी पदों का अलग-अलग विचार करना होगा। ॐ तीनों वेदों का सार है। इसलिए अ, उ, म् ये तीनों पद ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के प्रतीक या चिह्न हैं। जैसा पहले कहा गया है, ऋक्, यजुस् और साम जीवन के तीन मुख्य तत्त्व हैं और आज की भाषा में उनका अर्थ क्रमशः ज्ञान, (निष्काम) कर्म और समत्व-बुद्धि (या भक्ति) होता है। जागृति में सर्व ज्ञान होता है, इसलिए जागृतावस्था ज्ञान की प्रतीक सूचक मानी जा सकती है। स्वप्नस्थिति में जो कर्म होते हैं उनका सुख-दुःख मनुष्य को वस्तुतः कुछ भी नहीं होता, यह अनुभव-सिद्ध है। इस दृष्टि से स्वप्न-सृष्टि को निष्काम कर्म की उपमा मानने में हर्ज नहीं है। वैसे ही जहां नींद आई कि सभी प्रकार के भेद अस्त हो जाते हैं और निखिल सृष्टि अद्वैत का अनुभव करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगती है, इसलिए सुषुप्तावस्था का दृष्टांत समत्व-बुद्धि को दिया जा सकता है। इस दृष्टि से अ, उ और म् ये तीन मात्राएं अब जीवन की तीन अवस्थाओं की निदर्शिकाएं बनेंगी। जागृतावस्था में मनुष्य की सब क्रियाएं व्यावहारिक भूमिका पर यानी पृथिवी पर होती हैं। स्वप्न-स्थिति में मनुष्य हवा में किले बांधता है, इसलिए मानो अन्तरिक्ष में भटकता है। गहरी नींद में अपने इकलोक के सारे दुःख-सुख भूलकर जीवात्मा शिवस्वरूप दिव्य आनन्द का अनुभव करता है, इसलिए स्वर्ग में रहता है। इसलिए अ, उ, म् इन तीन मात्राओं से हमें नित्य के अनुभव के पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक—या भूर्, भुवः, सुवर्—इन तीन लोकों का बोध होगा। जागृतावस्था में मनरूपी पवन सहित वाक् आदि सभी इन्द्रियां काम करती रहती हैं। स्वप्न में इन्द्रियां शान्त रहती हैं और सिर्फ मन हवा के साथ फिरता रहता है, और नींद में प्राण के सिवा सभी निस्पंद रहते हैं, इसलिए 'अ' यानी वाक् 'उ' यानी मन और 'म्' यानी प्राण ऐसा भी अर्थ ऋषियों ने किया है।

लेकिन इसपर कोई ऐसी आपत्ति करेगा कि जो अर्थ शब्द से बिल्कुल नहीं निकलता, उसे सिर्फ कल्पना से उसपर लादना ही हो तो ऋषि ही क्या, कोई भी ऐसे सैकड़ों अर्थों की कल्पना कर सकता है। लेकिन यह आक्षेप उचित नहीं है, क्योंकि यदि वैसे देखा जाय तो किस शब्द में कौन-सा अर्थ होता है? का-ग-ज अक्षर-समूह में ऐसा कौन-सा सामर्थ्य भरा हुआ है कि उससे हमें कागज का बोध हो? यह भी एक लौकिक संकेत ही है न? यानी यह एक कल्पना ही हुई। अलावा इसके अर्थ लादने का यहां सवाल ही नहीं आता। जैसे कागज के पीछे सार्वजनिक निश्चय का आधार है, वैसे ही ऋषियों द्वारा की गई कल्पना के पीछे भी ध्यान का, दीर्घ चिंतन का, सतत परिश्रम का और कृति का सामर्थ्य है। तीन मात्राओं के कोई भी तीन मनमाने अर्थ लगाये जायं, ऐसा यह शाब्दिक खेल नहीं है। यह तो जीवन का प्रश्न है। प्रश्नोपनिषद् में ऋषियों की अर्थ-पद्धति स्पष्ट की गई है। 'अ'-कार का अर्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसने 'पृथिवी' किया, उसने 'अ'-कार पर वह अर्थ कैसे लादा, इसके बारे में उस उपनिषद् में "स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति", यों स्पष्टीकरण किया गया है । इसका अर्थ होता है कि जो ऋषि 'अ'-कार की जगह पृथिवी की भावना करता है उनपर यह जिम्मेदारी आती है कि वह पृथिवी पर दीन स्थिति में नहीं रहे । पृथिवी पर की 'महिमा' उसके वश में होनी चाहिए । उसकी आकांक्षा, गृत्समद ऋषि के वैदिक वचनानुसार, 'प्राये प्राये जिगीवांसः स्याम'—प्रत्येक व्यवहार में हम विजयी हों, यही होनी चाहिए । इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए उसे तपश्चर्या का, ब्रह्मचर्य का और श्रद्धा का अनुष्ठान करना चाहिए। इस रीति से अनुष्ठान करके ऋषि पृथिवी पर की महिमा का अनुभव किया करता था । इसीसे वह 'अ' का अर्थ पृथिवी कर सका और उपनिषत्कारों ने वह अर्थ नोट कर लिया । आपको तीन मातृकों का यदि और कोई दूसरा अर्थ लगाना हो तो आप भी उसके लिए वैसी तपश्चर्या करें, आप भी अपना अर्थ लगा सकेंगे । इसलिए यह आपत्ति इतनी महत्त्व की नहीं है । लेकिन मुख्य प्रश्न दूसरा ही है; और वह पहले आ चुका है । समीकरण में तीन मात्राओं के ऊपर जो आधी मात्रा है वह कहां से लायें ? क्योंकि तीन मातृकों का अलग-अलग अर्थ कर, उनके योग में से—यानी ॐकार में से—ऋषि साढ़े तीन मात्रा निकालता है । उदाहरणार्थ अ=वाक्, उ=मन, म्=प्राण ऐसी कीमतें बतलाकर ऋषि ॐ=आत्मा उत्तर निकालता है, सो कैसे ? या तीन मातृकों का अर्थ पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग किया जाय तो ॐकार यानी उन तीनों को जोड़कर 'तीनों लोक' अर्थ होगा, लेकिन ऋषि तो 'तीन लोकों का जिनसे निर्माण हुआ', उन देवराय से ही बोलने लगता है ! इसका क्या अर्थ है ? जग यानी जगदीश कैसे हो सकता है ? यदि तीन मात्राओं का अर्थ स्वप्न-जागर-सुषुप्त किया जाय तब भी उनके योग में से सर्व-साक्षिणी तुरीय-अवस्था कैसे निकलती है ? प्रश्न यही है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रश्न को हल करने से पहले एक बात ध्यान में रखनी होगी। 'अ' का 'उ' का या 'म्' का वास्तविक अर्थ कुछ भी नहीं है। ये तो वर्णमाला के वर्ण हैं। लेकिन जब 'अ' का अर्थ पृथिवी, वाक् इत्यादि किया जाता है तब 'अ' अक्षर के स्थान पर पृथिवी अथवा वाणी की मूर्त्ति यह है, इस प्रकार से ध्यान की मानसिक क्रिया करके, कल्पना की जाती है। ऐसी स्थिति में जब तीन मात्राओं की जगह तीन भावनाएं रखते हों तब ऐसा नहीं होता कि उन तीन मात्राओं के योग पर यानी ॐकार पर, पहले की तीन भावनाओं के योग की ही भावना की जानी चाहिए। तीन मात्राओं पर पहले ध्यान-भावना करके फिर जोड़ करना, और तीन मात्राओं का पहले जोड़ करके फिर ध्यान-भावना करना, इन दोनों में बहुत फर्क है। समझने के लिए हम बीजगणित का एक उदाहरण लें। क^{२}+च^{२}, और (क+च)^{२} ये दो बैजिक पद हैं। पहले पद में क और च इन दो पदों के पहले वर्ग करके, फिर उन वर्गों का योग किया है और दूसरे पद में क और च इन दो पदों का पहले योग करके फिर उसका वर्ग किया है। इसलिए इस दूसरे पद में '२ कच' एक नया ही पद, या आधी मात्रा पैदा हुई है और इस पद की कीमत क^{२}+च^{२}=२ कच होती है। इसी न्याय से अ+उ+म्=ॐ यद्यपि पर्याय रूप (आयडेण्टिकल) समीकरण हो, यानी उसके दोनों पक्षों की मात्राएं या मूल्य एक ही हों, फिर भी 'अ' ध्यान+'उ' ध्यान+'म्' ध्यान इस फलित की अपेक्षा (अ+उ+म् ध्यान) अथवा ॐ ध्यान इस फलित की कीमत अधिक होनी ही चाहिए। यह कीमत कितनी होनी चाहिए, यह भले ही ध्यान की क्रिया किये बिना जानना सम्भव न हो, फिर भी कीमत अधिक होनी चाहिए या होना संभव है ऐसी कल्पना करने में तो कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस अधिक कीमत को योगीजन आधी मात्रा जैसी सांकेतिक संज्ञा से दरसाते हैं। इसलिए तीन साढ़े-तीन कैसे बने, यह प्रश्न ही शेष नहीं रहता। इस प्रश्न की जड़ में जो अज्ञान है उसकी चपेट में ही सारे वैज्ञानिक आ गये हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे सुख-स्वप्न देखा करते हैं कि रसायन, पदार्थ-विज्ञान, गणित, ज्योतिष, भूगर्भ, न्याय, व्याकरण, अर्थ, समाज इत्यादि विज्ञानों की मदद से विश्व के विभिन्न पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करलें और फिर उस ज्ञान का योग कर डालें तो संसार की गुत्थी सुलझ जायगी। लेकिन यह काम इतना आसान नहीं है। पहले तो व्यावहारिकों का आक्षेप है कि विश्व के अनंत पदार्थों का ज्ञान होने के पूर्व ही इन जिज्ञासुओं का अन्त हो जाता है। फिर दार्शनिकों का आक्षेप है कि विश्व के सब पदार्थों में ये जिज्ञासु स्वयं भी आते हैं, इसलिए विश्व के सभी (यानी अपनेको छोड़कर) पदार्थों का ज्ञान हो जाय तब भी, जबतक स्वयं का ज्ञान नहीं होता तबतक समूचा ज्ञान अपूर्ण रहेगा। इन दोनों आक्षेपों को यदि एक ओर रख दिया जाय फिर भी पदार्थों के ज्ञान का योग और पदार्थों के योग का ज्ञान, इन दोनों में घोर अंतर है। यह बात 'आकाश को मुट्ठी में बांध लूं' ऐसा चाहनेवाले इन चपल भूत-विद्याभक्तों के ध्यान में नहीं आती। ये लोग पहले अलोना साग खायंगे, ऊपर से नमक की बुकनी फांकेंगे, और दोनों के योग से साग खाने का आनन्द अनुभव करेंगे। संस्कृत में किसी भोले भावुक कवि ने 'विष्णुपादादिकेशांत वर्णन' किया है, यानी विष्णु के पैरों से लेकर केशों तक के सभी अवयवों का सिलसिलेवार वर्णन है। क्या ऐसे वर्णन से सर्वाङ्गसुन्दर विष्णु की कल्पना हो सकेगी ? पर यदि कवि निरंकुश हों तो हों, कम-से-कम वैज्ञानिकों पर तो अंकुश होना चाहिए या नहीं ? पहले तो आपको सब टुकड़ों का ज्ञान होगा ही कैसे, यदि हुआ भी तो उस ज्ञान का योग आप करेंगे कैसे ? योग करते समय आप 'हासिल' कहां से लायंगे, और यह हासिल आपने यदि भिन्न-भिन्न विज्ञानों से प्राप्त कर भी लिया तो फिर भी कई थेगले सीकर बनाई हुई इस गूदड़ी में से आप विश्व-ज्ञान का अखंड वस्त्र कैसे निर्माण करेंगे ? पहले यह पहेली सुलझाइये, फिर जगत् की पहेली को देख लेंगे। सारांश, व्यष्टि के जोड़ की अपेक्षा समष्टि में 'आधी मात्रा' अधिक होती है, यह बात भूलकर काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं चलेगा। 'अ'-कार का ध्यान करोगे तो पृथिवी के प्रभु बनोगे; 'उ'-कार का ध्यान करोगे तो अन्तरिक्ष के अधिकारी बनोगे; 'म्'-कार का ध्यान करोगे तो स्वर्ग के स्वामी बनोगे और तीनों का अलग-अलग ध्यान करोगे तो जगत् के विजेता बनोगे। लेकिन ज़गत् के विजेता होनेपर भी जगदीश हाथ नहीं आयगा। जगदीश को प्राप्त करने के लिए तीन मात्राओं का योग कर ॐकार का ध्यान करना होगा। इस 'योग'-सामर्थ्य से आधी मात्रा और बढ़ जाती है और तब जग = जगदीश का समीकरण हल होता है।

४

लेकिन इस समीकरण के हल हो जाने पर भी किसीके मन में यह प्रश्न पैदा होगा कि ध्यान की सहायता से ही यदि यह समीकरण हल करना है, यानी कोई भी ब्रह्म-वाचक काल्पनिक संकेत ध्यान के लिए तैयार करना है, तो उसमें अपना स्वगत अर्थ होने की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसी बात है तब ॐकार का ही चुनाव करने में कौन-सी विशेषता है? कोई इसका उत्तर अशोकवनिका-न्याय के अनुसार देंगे। सीता को अशोक-वन में ही क्यों रखा गया, इसलिए कि आम्र-वन में नहीं रखा गया। इसी प्रकार, ॐकार को ही क्यों पसन्द किया गया? इसलिए कि 'टों'-कार को पसन्द नहीं किया गया। लेकिन यह उत्तर ठीक नहीं। ॐकार में जो स्वगत सामर्थ्य है वह 'टों'-कार में नहीं है। और यह स्वगत सामर्थ्य ऋषियों को इष्ट है। ऋषियों के सारे दर्शन का रहस्य 'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारंभे'— किसीसे भी विरोध न हो इस प्रकार मैं धर्माचरण करूंगा—इस प्रतिज्ञा में है। सभी धर्मों की दिशा अविरोध, अभेद, ऐक्य अथवा अद्वैत यही है, या होनी चाहिए। किसी भी धर्म को लीजिये, दुनिया के भेद कैसे कम होंगे इसी एक चिन्ता से वह प्रवृत्त होता रहता है। उदाहरणार्थ भेदात्मक दिखाई देनेवाला चातुर्वर्ण्यात्मक धर्म भी वस्तुतः अभेद फैलाने के लिए ही निर्मित हुआ है। जिस समाज में स्वार्थ की हजारों शाख़ा-उपशाख़ाएं फूटी हुई हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे चार वर्गों में बांट देने का मुख्य हेतु, भले ही अपने-अपने वर्ग के लिए ही क्यों न हो, अभेद-भाव उत्पन्न करना ही है। यदि किसी का यह अभेद-भाव विश्व-व्यापक बन जाय और उस व्यक्ति के लेखे चातुर्वर्ण्य नष्ट हो जाय तो भी चातुर्वर्ण्य को इसका खेद न होगा और वह अपने जन्म को सार्थक ही समझेगा। ब्राह्मण-धर्म, क्षत्रिय-धर्म, या पुत्र-धर्म, शिष्य-धर्म आदि सभी संकुचित धर्मों की उत्पत्ति अभेद-भाव जागृत करने के लिए है, इसलिए अभेद-भाव में ही उनका विलय होता है। घटघट में भगवान देखनेवाले पुरुष के लिए उपनिषदों ने कहा है—'पिता पिता नहीं, माता माता नहीं, वेद वेद नहीं।' ब्राह्मण-धर्म मर्यादित धर्म है, इसलिए यद्यपि उसकी प्रतिज्ञा है 'मैं ब्राह्मण हूं' फिर भी उसका अर्थ यह नहीं होता कि मैं 'ब्राह्मणेतर नहीं हूं।' 'मैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अत्यज सबकुछ हूं, लेकिन मैं अपने-आपको ब्राह्मण इस संकुचित मर्यादित अथवा नम्र शब्द से सम्बोधित करता हूं।' ब्राह्मण-धर्म का इतना ही कहना है। 'मैं हिन्दू हूं' यह कहना सही है, लेकिन 'मैं मुसलमान नहीं हूं' यह कहना झूठ है। 'मैं वैष्णव हूं' यह बात सही है, लेकिन 'मैं शैव नहीं', सही नहीं है। मैं हिन्दुस्तान में रहता हूं यह सही हो तो भी इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि 'मैं तुर्की में नहीं रहता।' मैं जिस जगत् में रहता हूं तुर्की भी इसीका एक अंग है, इसलिए मैं तुर्की में भी रहता तो हूं, लेकिन जिम्मेदारी उठाने की मेरी शक्ति अल्प है, इसलिए मैं अपने-आपको हिन्दुस्तानी कहता हूं, केवल इतनी-सी बात है, क्योंकि वैसे देखा जाय तो मैं हिन्दुस्तान में भी कहां रहता हूं ? हिन्दुस्तान के किसी एक प्रांत के किसी एक गांव के किसी एक घर की किसी एक कोठरी के किसी एक शरीर के किसी एक छोटे-से हृदय में—या कहिये 'स्व' में—रहता हूं। लेकिन इस प्रकार स्व-स्थ होने पर भी मैं काय-स्थ, गृह-स्थ या देश-स्थ[1] नहीं हूं, ऐसी बात नहीं है।

---

१. कायस्थ, गृहस्थ या देशस्थ शब्दों में श्लेष है। कायस्थ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना ही नही मैं तीनों लोकों में रहता हूं, इस अर्थ के अनुसार मेरे 'त्रय-स्थ पन' (तटस्थता) में भी बाधा नहीं आती। हां, मेरी इतनी योग्यता न होने के कारण मैं अपनेको त्रय-स्थ (तटस्थ) नहीं कहने देता, यह बात अलग है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य की मर्यादित शक्ति के अनुसार वह अपने लिए जो धर्म स्वीकार करता है— या जिस धर्म को स्वीकार करने के लिए शास्त्र ने उसे कहा है— उस धर्म का पालन करते हुए उसमें दूसरे धर्मों के लिए भी गुंजाइश रखने की सहिष्णुता होनी चाहिए। जिसे हम व्यावहारिक भाषा में सहिष्णुता कहते हैं उसे दर्शनकारों ने 'अविरोध' 'समन्वय', या 'एकवाक्यता' कहा है। जैन-शास्त्रकारों ने इसे 'मध्यस्थ-दृष्टि' नाम दिया है। भक्त-जन इसीको अभेद-भाव, अद्वैत-भाव आदि मीठे-मीठे शब्दों से पुकारते हैं। 'मैं ब्राह्मण हूं' कहने में मैं परमेश्वर के एक अङ्ग को स्वीकार करता हूं, लेकिन इसका यदि यह अर्थ हो कि 'मैं महार[1] नहीं हूं' तो इसके द्वारा उसी परमेश्वर के दूसरे अङ्ग का मैं तिरस्कार या निषेध करता हूं, इसलिए जितने अंश में मैंने ईश्वर को स्वीकार किया है उतने ही अंशों में वह इंकार करने के समान हो जाता है, क्योंकि ईश्वर इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता यानी ऐसा करके मैं ईश्वर-द्रोही साबित होता हूं। इसलिए यद्यपि मैंने अपने विशिष्ट ब्राह्मण-धर्म के लिए तीन मात्राएं रखी हैं फिर भी आधी मात्रा अन्य सभी ब्राह्मणेतर धर्मों के लिए रखकर इस साढ़े तीन मात्रावाले ॐकार की उपासना करना ही मेरे धर्म का वास्तविक अर्थ है। और यहां भी आधी मात्रा में शेष तीनों मात्राओं से ज्यादा योग्यता है। यह 'आधी मात्रा', 'अविरोध वृत्ति', 'सर्व-सहिष्णुता' या 'सर्वांभूतीं भग-

---

(काय-स्थ) शरीर-निवासी, एक जाति विशेष; गृहस्थ (गृह-स्थ) घर में रहनेवाला, संसारी; देशस्थ (देश-स्थ) देश में रहनेवाला, महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों की एक उपजाति।

१. एक अछूत जाति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्भाव', जीवन का आद्य तत्त्व है। इसके बाद सभी लौकिक अथवा शास्त्रीय धर्मों की भी मर्यादा लुप्त हो जाती है। 'देव जोडे तरी करावा अधर्म'–जिससे ईश्वर प्राप्त हो ऐसा अधर्म भी क्षम्य है–इस सन्त-वचन का, या 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'–सब धर्मों की मर्यादा तोड़कर मेरी शरण आ—इस भगवद्-वचन का भी यही भावार्थ है। किसी भी धर्म का निषेध न करते हुए सभी धर्मों को संमति अथवा अनुज्ञा देकर अपने में समा लेनेवाले इस विश्व-व्यापक तत्त्व को सूचित करने का स्वगत सामर्थ्य ॐकार में है। यह 'टों'-कार में नहीं है। इसीलिए ऋषियों ने ध्यान के लिए ॐकार का सर्वश्रेष्ठ आलम्बन पसन्द किया। यह स्वगत शक्ति कौन-सी है? ॐ चूंकि एक अव्यक्त ध्वनि है, इसलिए यद्यपि लौकिक भाषा में उसका कुछ भी अर्थ सम्भव न हो, फिर भी जिस जगह हम हिन्दी में 'हां' या 'हूं' कहते हैं उस जगह संस्कृत में 'ॐ' कहते थे। लिहाजा 'ॐ' 'अनुज्ञा-दर्शक अव्यय' है—उपनिषद् में 'ओमित्येतद् अनुज्ञाक्षरम्' कहा गया है। परमेश्वर के साम्राज्य में प्रजाजनों में से हरेक को अपने-अपने धर्म के अनुरूप बरतने की अनुज्ञा या छूट है। यही नहीं, अधर्माचरण या गलती करने की स्वतंत्रता भी विश्व-सम्राट् की अबाध्य सत्ता के अन्तर्गत प्रत्येक को है। अपनी जिम्मेदारी पहचानो और 'यथेच्छसि तथा कुरु'—जैसी इच्छा हो वैसा करो—इस विराट् साम्राज्य में यही एक आदेश है। इस प्रकार इस दिव्य साम्राज्य में चूंकि सभीको स्वतंत्रता की पूर्ण अनुज्ञा दी गई है, इसलिए अनेक साम्राज्यों का उदय हुआ और वे अस्त भी हो गये, लेकिन टेनिसन के झरने की भांति सिर्फ यह साम्राज्य ही सदा के लिए उदित (छां० ३-११-३), शाश्वत, स्थिर, अव्यय है। सर्व-सहिष्णुता की यह अव्यय सत्ता सूचित करने की ॐ अनुज्ञा-दर्शक अव्यय में अपनी अंगभूति शक्ति होने के कारण ऋषियों ने इसे ध्यान-मंत्र के रूप में स्वीकार किया होगा।

यह ॐकार सर्व-सहिष्णु होने के कारण इसे भली-बुरी सभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्वनियां, सहन हो सकती हैं। किसी भी स्वर में यह विसंवादी नहीं होता, बल्कि इसके विश्व-संवादी नाद में अनेक विसंवादी स्वर खप जाते हैं। इसलिए गायक लोग तम्बूरे पर ॐकार की ध्वनि लगाकर उस ध्वनि के साथ गाते है। सारे गायक इस ॐकार-नादिनी वीणा का नित्यशः उपयोग करते हैं, उसकी ॐकार सदृश आकृति देखते हैं, स्वर चढ़ाने-उतारने के लिए उसकी आधी मात्रा की खूंटी मरोड़ते हैं, किन्तु इतना करने पर भी चूंकि उन्हें उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता, इसलिए बेचारे सिर्फ धन के भागीदार बनते हैं। 'तद् ये इमे वीणायां गायन्ति, एतं ते गायन्ति, तस्मात् ते धनसनयः।' लेकिन नारद-जैसों को इस वीणा की पहचान है, इसलिए वे इसकी उपासना से मोक्षपद के अधिकारी बनते हैं। सर्व-सहिष्णु, विश्व-संवादी ॐकार का मधुर बोल बोलनेवाली यह वीणा भला कौन-सी होगी ? देवी सरस्वती की इस ॐकार-नादिनी वीणा को ऋषि 'शान्ति' के नाम से पहचानते हैं, परन्तु इससे अधिक परिचय कर लेने के पूर्व ऋषि-सम्प्रदाय के अनुसार इसका तीन बार स्मरण करना चाहिए। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

Gurukula Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: २ :

शान्ति

१

पहले बताया जा चुका है कि संस्कृत में ॐ 'अनुज्ञाक्षर' है। इसलिए ब्रह्म-गान करनेवाले स्वयं-भू कवि वाग्-देवी की मधुर वीणा पर 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का विश्व-संवादी मंजु स्वर तीन बार छेड़कर परमेश्वरी समता के (साम) गायन की शुरुआत करते थे। ॐकार-मन्त्र का स्मरण करके शान्ति शब्द के तीन बार के उच्चारण में ऋषियों का उद्देश्य ॐकार का स्पष्टीकरण करना है तथा यह भी सूचित करना है कि तीनों मात्राओं का जो भी अलग-अलग अर्थ किया जाय उसका अन्तिम फलितार्थ विश्व के प्रति अविरोध-वृत्ति या अद्वैतात्मक शान्ति ही है। 'अ' अर्थात् पृथिवी, 'उ' अर्थात् अन्तरिक्ष और 'म्' अर्थात् द्युलोक। इन तीन मात्राओं के ऐसे अलग-अलग अर्थ हों, फिर भी अन्त में इन तीनों जगतों की 'अ'-कार से उत्पत्ति, 'उ'-कार से स्थिति और 'म्'-कार से उत्क्रान्ति करनेवाली, साढ़े तीन की, अथवा इतनी नपी-तुली भाषा इस्तेमाल न करनी हो तो तुरीय यानी चौथी, विराट् शक्ति एक ही है। इसीलिए अद्वैत तत्त्व पर दृष्टि निश्चित करके ऋजु एवं कुटिल नाना प्रकार के पंथों के संबंध में अविरोधात्मक तथा शान्त वृत्ति को न हटाकर साधक को स्वतः ब्रह्मकर्म के ऋजु मार्ग से आत्म-तत्त्व की उपासना करनी चाहिए। उपनिषदों का यह पहला और अन्तिम अनुशासन है। यही अर्थ 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म, तज्जलान्, इति शान्त उपासीत'—चूंकि सभी 'तज्जलान्' है, इसलिए ब्रह्मरूप है और उसकी शान्तिपूर्वक उपासना करनी चाहिए (छां. ३-१४-१)—इस वाक्य में अक्षरशः दिखाया गया है। 'शान्त उपासीत' प्रधान वाक्य है और 'सर्वं खलु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इदं ब्रह्म' उसका हेतु-वाक्य है। उपासना शान्त वृत्ति से क्यों की जाय ? इसलिए कि विश्व की प्रत्येक चीज ब्रह्म-रस से सराबोर है। लेकिन यह कैसे जाना जाय ? यह दिखलाने के लिए आगे 'तज्जलान्' गूढ़ संज्ञा दी गई है। 'तज्जलान्' शब्द में तज्ज (यानी तत्-ज=उससे पैदा हुए), तल्ल (यानी तत्-ल=उसीमें लीन होनेवाले) और तदन (यानी तत्-अन—उसके बल पर हिलने-डुलनेवाले) ऐसे तीन हिस्से हैं। इन सबके योग से 'तज्जलान्' या संस्कृत की विभक्ति इस्तेमाल की जाय तो 'तज्जलानम्,' रूप होता। परंतु ऋषियों की परोक्ष-प्रियता ने इसकी आधी मात्रा कम कर दी। इसलिए तज्जलान रूप सिद्ध होता है। तदनुसार इस सांकेतिक संज्ञा का अर्थ हुआ "सारा जगत् एक ही ब्रह्म से उत्पन्न होता है (जायते), उसीके बल पर चलता है (अनिति) और अन्त में उसीमें लीन हो जाता है (लीयते)।" इस समूचे वाक्य से कार्य-कारण-भाव से बंधा हुआ यह पूर्ण, सुसंघटित विचार पैदा होता है कि उपासना शान्त वृत्ति से क्यों की जाय ? वह इसलिए कि सब ब्रह्म-रूप है। सब ब्रह्म-रूप है, इसका क्या आधार ? वह 'तज्जलान्' है। इसलिए हमारी राय में यही अर्थ सूचित करने के लिए ॐकार को उद्गीथ संज्ञा दी गई है। ॐकार-वाचक प्रणव शब्द 'नु—स्तुति करना' धातु को 'प्र' उपसर्ग लगाकर बनाया गया है। उसका अर्थ उत्तम स्तुति होता है। उसी प्रकार उद्गीथ शब्द भी 'गै'—गाना धातु को 'उत्' उपसर्ग जोड़ने से बना है। उसका अर्थ भी 'उच्च गायन' या 'उत्तम स्तुति' ही होता है। लेकिन इस बाह्य अर्थ को कायम रखकर भी 'उद्गीथा क्षराण्युपासीत'—उद्गीथ के अक्षरों की उपासना की जाय—का विधान होने के कारण उद्-गीथ शब्द के अक्षरों में से उत्पन्न होनेवाला दूसरा आन्तरिक अर्थ ऋषियों ने विवक्षित रखा है। उद्गीथ के 'उत्', 'गीः' और 'थम्' ऐसे तीन हिस्से स्वयं ऋषियों ने करके दिखाये हैं। हमारी समझ से 'उत्' उत्पत्ति का सूचक है, 'गीः' और 'थम्' शब्द क्रमशः 'गृ'—निगलना, और 'स्था'—रहना या टिकना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातु से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए उनका अर्थ 'लय' और 'स्थिति' होता है। इसलिए उद्गीथ के अक्षरों का, और चूंकि ये ही ॐकार की तीन मात्राएं हैं, इसलिए पर्याय से ॐकार की मात्राओं का, संकलित अर्थ 'तज्जलान्' शब्द की भांति होता है। सारे जगत् में 'उद्गीथ' किंवा ॐकार रूप एक ही पैतृक सत्ता का शासन है, इसलिए उपनिषदों की विचार-सरणी के अनुसार, 'उद्-गीथ' शब्द से, इस प्रेममय शासन में रहनेवाले प्रजाजनों को स्वतन्त्रता और शांति से रहना चाहिए, असहिष्णुता की अभद्र भाषा नहीं बोलनी चाहिए, यह भाव सूचित होता है, यानी 'उद्गीथ' इस एक ही शब्द में शान्ति और उसके पीछे का अद्वैत दोनों का अर्थ निहित है।

इस शान्ति रूप उद्-गीथ का रहस्य प्रकाशित करनेवाली एक आख्यायिका छांदोग्योपनिषद् में आई है—"पहले देवासुर-संग्राम में देवताओं ने असुरों को पराजित करने के लिए उद्-गीथ का आश्रय लिया था। प्रारम्भ में, उन्होंने नाक में रहने-वाले प्राण (वायु) को ही उद्-गीथ समझकर, उसकी उपासना की। लेकिन असुरों ने उस प्राण पर (यानी घ्राण पर) 'पाप' फेंककर मारा। बेचारा प्राण पाप-विद्ध होने के कारण सुगन्ध के साथ दुर्गंध भी सूंघने लगा और निरुपयोगी साबित हुआ। इसके बाद देवताओं ने वाणी की उद्-गीथ बुद्धि से उपासना की। लेकिन उसपर भी असुरों द्वारा की गई पाप की मार चल गई और वह सत्य के साथ अनृत भी बोलने लगी। इसी प्रकार फिर आंख, कान और अन्त में मन की परीक्षा हुई, और तीनों पाप-संसर्ग से भ्रष्ट हो जाने के कारण अयोग्य साबित हुए। इसपर देवताओं ने मुख्य प्राण (यानी आत्मा) ही सच्चा उद्-गीथ है यह जानकर उसकी उपासना की। असुरों ने उसपर भी पाप का प्रयोग किया होगा, लेकिन दूसरे नकली उद्-गीथ के समान उसपर जब पाप का कुछ बस नहीं चला, तब आखिर असुर खुद उसपर टूट पड़े। लेकिन जहां कुदालीतक कुछ नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकती, ऐसे किसी काले पत्थर (अश्माऽखण) पर जिस प्रकार मिट्टी का ढेला चूर-चूर हो जाता हैं, वैसे ही इस अश्माऽखणा पर गिरकर सारे असुरों का विध्वंस हो गया।" इसी आख्यायिका का अनुवाद बृहदारण्यक उपनिषद् में किया गया है। वहां इस उद्‌गीथ-देवता को 'दूर' नामक देवता की संज्ञा दी गई है, क्योंकि इससे मृत्यु 'दूर' रहता है, ऐसा कहाग या है। (बृ० १-३-६) वस्तुतः जिस देवासुर-संग्राम का वर्णन उपर्युक्त आख्यायिका में किया गया है वह केवल ऐतिहासिक नहीं है। भाष्यकारों ने कहा है कि ऐसा संग्राम सभी प्राणियों के शरीर में अनादिकाल से सतत चलता आ रहा है। इन्द्रियों पर चूंकि पाप का बाण चल जाता है, इसलिए इन्द्रिय-सुख के गीत भयानक श्मशान-गीत हैं, शान्ति-गीत (उद्‌गीथ) नहीं। 'किमहं पापम्-करवम्'—क्या मेरे हाथों पाप हुआ होगा ?—यह शंका जहां जागृत है वहां चूंकि मृत्यु का कु-दर्शन चक्र गोल-गोल घूमता रहता है, इसलिए वहां शान्ति का पुण्य-निवास नहीं हो सकता। अतएव शान्ति-समृद्ध अमृत का (तै०-१-६-२) पान करने की इच्छावाले को अ-पापविद्ध ॐकार की या मृत्यु जिसके डर से दूर भागता है उस दूर नामक उद्-गीथ देवता की उपासना करनी चाहिए, यह इस आख्यायिका का कहना है। सारांश यह है कि अविरोधात्मक वृत्ति से अद्वैत तत्त्व की उपासना करके अमरत्व सम्पादन करे या शान्ति से शान्ति की उपासना कर शान्ति प्राप्त करे, ॐकारोपासना का ऐसा एकात्मस्वरूप दिखाने के लिए ऋषि, ॐकार का स्मरण कर शान्ति शब्द की त्रिरुक्ति करते है। इसी शान्ति को ही पुरानी वैदिक भाषा में चूंकि 'शम्' कहते थे, इसलिए ॐकार के दूसरे सगुण नाम 'शं-कर' या 'शं-भू' हैं। केनोपनिषद् में चूंकि ॐकार को उमा का स्वरूप दिया गया है और कालिदास के कथनानुसार पार्वती और परमेश्वर वाक् और अर्थ जैसे अन्योन्य-संपृक्त हैं, इसलिए यदि उमा को ॐकार का वाच्यार्थ कहा जाय तो शं-भू को ॐकार का लक्ष्यार्थ कहा जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगा। 'उमया सह सोमः'—उमा के साथ है इसलिए सोम—इस व्युत्पत्ति से 'नमः सोमाय च रुद्राय च', इस रुद्राध्याय के वचन में शंकर को सोम संज्ञा दी गई है। सोम शब्द का दूसरा अर्थ चन्द्रमा भी होता है। इसपर ॐकार की छाप कलंक-रूप से स्पष्ट दिखाई देती है, यह बात पहले ही कही जा चुकी है और वह उसके शान्त तेज के बिलकुल अनुरूप है। कई लोगों का मत है कि गणपति की मूर्ति ॐकार के आकार को ध्यान में रखकर ही बनाई गई है और यह भी उपनिषदों की कल्पना के अनुसार है। "गणानां त्वा गणपतिं हवामहे ···· ज्येष्ठ राजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पते" गृत्समद ऋषि का यह प्रसिद्ध मंत्र ब्रह्मणस्पति को गणपति विशेषण देता है और ॐकार शब्द ही ब्रह्म का मथित है, इसलिए ब्रह्मणस्पति है, ऐसा वर्णन उपनिषदों में आता है। (बृह० १-३-२१)। और उसपर से ही गणपति वाङ्मय का अधिष्ठाता देवता माना जाता है। अन्त में 'त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति' (ऋ. ४–५८–३)—(तीन मात्राओं से) तीन जगह बांधा हुआ वृषभ (प्रत्येक के हृदय-मन्दिर में, जीवन के अत्यन्त अन्तःस्थल में, 'हृदि अन्तरायुषि') गर्जना करता रहता है—वामदेव की इस उक्ति के अनुसार शंकर का वाहन माना गया नन्दी भी ॐकार का ही प्रतीक जान पड़ता है। इस प्रकार वृषभ, गणपति, सोम, उमा और शंकर ये सब ॐकार परिवार के होने के कारण शान्ति के पर्याय ही हैं। इसलिए ॐकार के वर्णन में शान्तं शिवं अद्वैतं (माण्डूक्य) विशेषण आते हैं।

२

लेकिन ऋषियों की कल्पना सृष्टि के विश्व-पञ्चायतन का स्वरूप कितना ही शान्तिमय हो, फिर भी हमारे व्यवहार को शंकर तामसी, उमा चण्डी, चन्द्र क्षयरोगी, गणपति वक्रतुण्ड और बैल सींग मारनेवाले होने के कारण हमारे लिए तीन-तीन बार उच्चारण करने पर भी शान्ति का कहीं भी प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं आता। 'विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा:'—सारा विश्व भद्र है, कारण क्योंकि देवता उसकी रक्षा करनेवाले हैं—वेद के ऐसे कितने ही वचन हमारे सामने पेश किये जायं फिर भी इन रक्षा करनेवाले देवताओं का हमारे व्यवहार में कहीं भी दर्शन नहीं होता, इसलिए इस विश्व का शान्तिमय होना हमारे अनुभव के अनुसार निरा जबानी जमा-खर्च प्रतीत होता है। 'नमः सोमाय'—सौम्य स्वरूप को नमस्कार—इस उपासना का ऋषियों को प्रत्यय हुआ हो, फिर भी हमारे पल्ले तो 'नमो रुद्राय' ऐसी 'रुद्र'-उपासना ही आई है। 'बुभुक्षमाणो रुद्र रूपेण अवतिष्ठते'—भूखा मनुष्य रुद्र बन जाता है—ऋषियों के वचन हैं। तब इस 'दरिद्र नील-लोहित' रुद्र का, यानी लाल-नीली आंखों-वाले बुभुक्षित दारिद्रय का समाधान करना कितना कठिन हो गया है, इस बात का जीवनार्थ कलह में फंसे हुए हम लोगों को पद-पद पर अनुभव होता है, और इसलिए निरा 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का शुष्क संकल्प न कहकर यदि 'शान्तिस् तुष्टिः पुष्टिश् चास्तु' जैसा कोई पौष्टिक या आर्द्र आशीर्वाद दिया जाय, तब तो उस सालन के साथ शान्ति का यह सूखा कौर भी हम जैसे-तैसे निगल जायंगे, अन्यथा यह शान्ति हमें न तो पचेगी और न जंचेगी। 'उमा' का अर्थ शान्ति हो, तो भी हमें तो 'अन्न-पूर्णा' अर्थ चाहिए। उसके बिना हमारा समाधान नहीं होगा—ऐसा आक्षेप सहज ही किया जा सकता है। अन्न-शास्त्र के अनुसार सूखा अन्न ही अधिक पचता है, इसलिए पुष्टि के बिना शान्ति नहीं पचेगी, यह कहना भले ही विवादास्पद हो, फिर भी वह नहीं जंचेगी, यह कहना उचित है। इसलिए ॐ चूंकि अनुज्ञाक्षर है, अतः अविरोध वृत्ति या शान्ति ही उसका निश्चित और उत्तम अर्थ हो, फिर भी 'एषा एव समृद्धिर् यदनुज्ञा' (छं. १-१-८)—अनुज्ञा में समृद्धि अपने-आप आती है—यह नियम है, इसलिए समृद्धि के लिए या पुष्टि के लिए स्वतन्त्र उपासना की जरूरत नहीं, ॐकार की शान्तिमय उपासना में से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारमार्थिक ज्ञान के प्रकाश के साथ ही ऐहिक समृद्धि की ऊष्मा भी प्राप्त हो सकती है, ऐसा उपनिषदों में कहा गया है। वस्तुतः 'जीवनार्थ कलह' शब्द व्याघात्मक है,इसलिए उसका अर्थ लगभग 'जीवनार्थ मरण' होता है। कलह से या विरोध-वृत्ति से जीवन समृद्ध होगा, यह आशा व्यर्थ है। अतिरिक्त अन्न-संग्रह के लिए कलह करनेवाले, जान पड़ता है, अन्न का स्वभाव भूल जाते हैं। "अद्यते अत्ति च भूतानि। तस्माद् अन्नं तदुच्यते"—सब प्राणियों के द्वारा खाया जाता है (अद्—'खाना' इसी धातु से अन्न शब्द बना है), इतना ही नहीं, बल्कि सब प्राणियों को खा जाता है—अन्न का स्वभाव ऐसा दुहरा है। मनु ने मांस-भक्षण के दोष बतलाते हुए 'मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्'—मैं जिसका मांस खाता हूं वह मुझे (मां सः) आगे जाकर खाये बिना नहीं रहेगा—मांस का ऐसा व्युत्पत्ति-पूर्वक धर्म बताया है। यही न्याय सामान्यतः सभी अन्नों को लागू होता है। हम 'अन्न को खाते हैं' तो वह हमें अच्छा लगता है। लेकिन इसके विपरीत जब अन्न हमें खाता है, तब रोने की बारी आती है। मांस या अन्न का ही नहीं, सारी जड़ सृष्टि का 'जैसे के साथ तैसा' वाला कठोर नियम है। या विशेष अन्वर्थक भाषा में कहना हो तो सृष्टि का यह कठोर नियम है ऐसा कहने की अपेक्षा सरल स्वभाव है, यही कहना होगा। 'जैसे के साथ तैसा' का अर्थ यह होता है कि सृष्टि चूंकि जड़ है, इसलिए उसमें जैसे क्षमा करने की बुद्धि नहीं है, वैसे ही बदला लेने की भी बुद्धि नहीं है। सृष्टि का स्वभाव न्याय-निष्ठुर कहा जाता है, लेकिन 'न्याय-निष्ठुर' विशेषण के समान ही 'न्याय-प्रेमी' विशेषण भी उसपर लागू किया जा सकता है। दुष्ट पुरुष को 'कठोर' जान पड़नेवाले सृष्टि के इस नियम का फायदा उठाने की युक्ति साधु-पुरुष को उस नियम से ही मिला करती है। साधु-पुरुष सृष्टि से अविरोध-वृत्ति रखते हैं और सृष्टि को भी अपने 'जैसे के साथ तैसे' न्याय के अनुसार ही उनसे व्यवहार करते समय अविरोध-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्ति रखनी पड़ती है। सौम्य-वृत्ति को सृष्टि का स्वरूप 'सोम' दिखाई देता है। रौद्रवृत्ति को 'रुद्र' दिखाई देता है। शाक्तों को शीघ्र-कोपी शंकर के दर्शन होते हों, पर भक्तों का तो चूंकि उसके 'आशु-तोष' किंवा भोले स्वरूप से ही परिचय है, इसलिए जीवन-संघर्ष में सफल होने का मार्ग, उनके मत से, जीवनार्थ कलह में 'गिरना' न होकर जीवनार्थ कलह को ही अविरोध-वृत्ति से 'गिराना' है। शान्ति ही पेटभर अन्न देनेवाली अन्न-पूर्णा देवी है। लेकिन पेट भर जाने के बाद फिजूल बर्बाद करने के लिए या बचाकर रखने के लिए वह सब्जी का पत्ता तक नहीं दे सकेगी, क्योंकि उसे सबकी समान चिन्ता है। जो दूसरों की समृद्धि को 'अनुज्ञा' देगी या पुष्टि के लिए जगह रखेगी, उसको पूर्ण समृद्धि प्राप्त होगी।

जहां अनुज्ञा वहां समृद्धि या जहां शान्ति वहां पुष्टि, यह समाज-शास्त्र का नियम है, इसलिए शान्तिमय ॐकार ही सारी समृद्धि का आश्रय है, ऐसा सुझानेवाली एक आख्यायिका छांदोग्य-उपनिषद के पांचवें अध्याय में है। "एक बार शरीर के भिन्न-भिन्न प्राणों में (यानी शक्तियों में) 'मैं ही श्रेष्ठ हूं,' ऐसा विवाद शुरू हुआ। नित्य नियम के अनुसार उस विवाद का कुछ भी निर्णय न होने के कारण, अन्त में सबने प्रजापति से प्रश्न किया। तब उसने कहा कि तुममें से जिसके अभाव में शरीर अधिक पापिष्ठ दिखाई देगा उसे श्रेष्ठ मानना चाहिए। सबसे पहले शरीर से वाणी निकल गई। वह एक वर्ष तक बाहर प्रवास करके जब लौटी तो दूसरे प्राणों से पूछने लगी, 'तुम मेरे बिना कैसे रहे ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'जैसे गूंगा मनुष्य बोले बिना जीवन की शेष सब क्रियाएं करके जीवित रहता है, वैसे ही हम रहे।' फिर आंखें वर्षभर घूम-फिरकर लौटीं। 'मेरे बिना तुम कैसे रहे ?' 'जैसा अन्धा रहता है, वैसे।' कानों की वही हालत। 'मेरे बिना तुम कैसे रहे ?' 'जैसे बहरा रहता है वैसे।' मन भी एक वर्ष अज्ञातवास में बिताकर वापस आया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मेरे बिना कैसे-क्या चला ?' 'जैसे बालकों का काम चलता है, वैसे।' आखिर मुख्य प्राण ने प्रस्थान की तैयारी की। लेकिन उसने बाहर की देहली में पांव रखा ही था कि इधर सबकी नाड़ियां खिचने लगीं, सभी आजिज आ गये और मिन्नतें करने लगे कि ऐसा प्रयोग अब मत करो। तू ही हममें श्रेष्ठ है। वाणी कहने लगी—'मुझमें जो वशीकरण शक्ति (वसिष्ठ) है वह तेरी ही है।' आंखें कहने लगीं, 'हमारी प्रतिष्ठा वस्तुतः तेरी ही प्रतिष्ठा है।' कान कहने लगे, 'हमारी सम्पत्ति तेरी ही सम्पत्ति है।' मन भी कहने लगा, 'मुझमें जो आकर्षण-शक्ति (आ-यतन) है वह तुझसे ही मिली है।' सारी शक्तियां मुख्य प्राण पर अवलम्बित हैं, इसलिए शरीर की सभी शक्तियों को 'प्राण' संज्ञा देते हैं।" इस आख्यायिका का मुख्य प्राण उद्गीथ या ॐकार है, इसलिए ॐकार ही विश्व की सारी शक्तियों का अन्तिम आधार है। जिस सूत्र में भिन्न-भिन्न मणि पिरोये हुए हों, उसमें यदि समन्वय-शक्ति, सहिष्णुता, सभीको अनुज्ञा देने की उदार अविरोध-वृत्ति या 'शान्ति' न हो, तो फिर उससे किन दूसरी बातों की अपेक्षा की जाय ? शरीर के सभी तत्त्व चूंकि प्राण-सूत्र में पिरोये हुए हैं, इसलिए वे एक 'प्राण' शब्द से ही पहचाने जाते हैं, उसी प्रकार से विश्व की सारी यच्चयावत् समृद्धि, सारी शक्ति या सारी विद्या चूंकि अद्वैतात्मक शान्ति में एकत्रित है, इसलिए उन सबको ऋषियों ने 'शान्ति' ही नाम दिया है। इन सारी शक्तियों के, या वैदिक भाषा में 'विश्वेदेवों' के, आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, या पौराणिक भाषा में लक्ष्मी, शक्ति और सरस्वती ऐसे तीन वर्ग करने पर, इन तीनों का आवाहन करने के उद्देश्य से 'शान्ति' शब्द का त्रिरुच्चार कर ऋषि स्वाध्याय का प्रारम्भ करते हैं।

या प्राणेन संभवति अदितिर् देवतामयी।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर् व्यजायत॥
एतद् वैतत् (कठ० ४–७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आत्म-तत्त्व की या ॐकार की उपासना से (प्राणेन) उत्पन्न होता है, इसलिए जिसमें सारी शक्तियों का समावेश (देवता-मयी) हो सकता है,और हृदय में (गुहां) प्रवेश करके जो भिन्न-भिन्न प्राणियों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है, वही है यह अदिति जिसकी अपेक्षा से तू मेरे पास आया है" इस प्रकार से कठोपनिषद् में मृत्यु ने नचिकेता को जो कहा है, वह इस सर्वसमृद्ध शांति के लिए ही है। 'अ-दिति' शब्द 'दो टुकड़े करना' धातु से लगाते हैं। विश्व के सब टुकड़ों को सीकर अखण्ड स्वरूप देनेवाली जो अद्वैत शक्ति प्राणिमात्र में काम कर रही है, उसे 'अदिति' नाम दिया गया है। जो प्रेमल करुणा, सूर्य-बिम्ब का चुम्बन करने के लिए आकाश में ऊंची उड़ान भरनेवाले वर्ड्स्वर्थ के चंडोल (स्काइलार्क) पक्षी के पैर घोंसले की ओर खींचकर स्वर्ग को पृथिवी से संलग्न करती है, क्रौंच पक्षी के वध से आर्द्र बने करुण-कवि के पवित्र शोक को श्लोकत्व देकर भूतकाल का भविष्यकाल से सम्बन्ध जोड़ देती है, साड़ी के रूप में द्रौपदी की लाज रखकर जड़ की चैतन्य से मैत्री कराती है; जो सार्वभौम अहिंसा मनुष्य का पशु-सृष्टि से संयोग करने के लिए, ब्रह्मध्यान से योग-निद्रा में सोये हुए भर्तृहरि के शरीर पर बूढ़े हरिण से सींग घिसवाती है, 'तुका म्हणे जें जें भेटे। तें तें वाटे मी ऐसें'—तुकाराम कहते हैं कि जो-जो मिलता है, वह मुझ जैसा ही लगता है!—इस वृत्ति से विहार करनेवाले तुकाराम के कन्धे पर पक्षियों का खेल कराती है, सेंट फ्रान्सिस ऑव असिसी की निर्वैर गोदी में सर्पों को सुलाती है, जो विश्वरूप आकर्षण-शक्ति, विश्व को एकत्रित करने के लिए, सारी वस्तुओं को 'वजनदार' बनाकर, आकाश के अनन्त आंगन में चन्द्रमा को पृथिवी के आस-पास, पृथिवी को सूर्य के, सूर्य को ध्रुव के, और ध्रुव को भी कदाचित् किसी सौर के चारों ओर फेरे लगवाती है, चन्द्र-दर्शन से समुद्र पर ज्वार की तरंगें पैदा करती है, लोहे को लोह-चुम्बक से मिलाती है; जो अमर आशा, मृत्यु का जीवन से योग कराने के लिए तपस्वी पुरुषों का शरीर चन्दन की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह तिल-तिल क्षय कराती है, सती को पति के साथ जलाती है, राष्ट्रवीर को रण-भूमि से भागने नहीं देती, जो आध्यात्मिक ज्ञानवत्सलता, ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों के मुखों से 'नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एक:'—इन कृपण-जनों को छोड़कर हम अकेले ही मुक्त होने की इच्छा नहीं करते—जैसे परार्थ-निष्ठा के स्नेह-मधुर उद्गार बुलवाकर उपनिषदादि दिव्य सरस्वती के रूप में हमारे उद्धार के लिए अवतीर्ण होती है, वही है यह वैदिकों के तीन बार स्मरण योग्य, हृदयाधिष्ठात्री, सर्व-देवतामयी, विविध नाम-रूपों से सजी हुई, शांति रूपिणी, और इसीलिए हिम-वान की (यानी शीतल निश्चय की) कन्या मानी गई, देवी उमा या 'अदिति'। सभी अंगों की वाणी बनाकर ऋषियों ने इसकी प्रार्थना की है :

> अदितिर् द्यौरदितिरन्तरिक्षम् ।
> अदितिर् माता स पिता स पुत्रः ।
> विश्वे देवा अदितिः पंचजनाः ।
> अदितिर् जातमदितिर् जनित्वम् ।। (ऋग्वेद १-८-१०)

"दिव्य तेज से जगमगानेवाली प्रतिभा (द्यौः), चैतन्य की आंतरिक स्फूर्ति (अन्तरि-क्षम्), छोटे-बड़े सबके प्रति उदार समान-वृत्ति (मा-ता), जगत् पर रक्षा के पंख फैलानेवाला व्यापक प्रेम (पि-ता), सारे संसार को सुखमय बनानेवाली पवित्रता (पु-त्र), विश्व-संग्रह की शक्ति (विश्वे-देवाः), पांच वर्णिक मानव-वंश के प्रति सहानुभूति (पंच जनाः), भूतकाल का अनादि स्मरण (जातम्), और भविष्यकाल के लिए अनन्त आशा (जनित्वम्), ये सब अदिति में एकत्रित हुए हैं," इन शब्दों में रहूगण-पुत्र गौतम ने वर्णन किया है और, 'को नो मह्या अदितये पुनर् दात्'—मुझे इस महान् अदिति के पास कौन पहुंचायगा ? इस एक ही चिन्ता से ऋषियों की सारी साधना प्रवृत्त हुई है। 'पिपर्तु नो अदिती राज-पुत्रा अति द्वेषांसि'—अदिति हमें द्वेष से परे ले जाय—इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रार्थना से अदिति का स्वरूप क्या होगा, यह ध्यान में आ सकता है।

३

इसी सर्व-द्वेषासीत अदिति या शान्ति को ही ऋषियों ने आत्मा का अन्तिम रूप माना है। साधना की दृष्टि से आत्मा के उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पांच रूप हो सकते हैं। जगत् के भिन्न-भिन्न विषय-रसों का अनुभव लेते हुए मनुष्य की कभी ऐसी एक अवस्था होना संभवनीय है जब उसके हृदय में एक ऐसी अस्पष्ट ध्वनि उठे कि विषयों से भी 'पर' या श्रेष्ठ 'तत्त्व' होना चाहिए। यह भीतर की आवाज या आकाश-वाणी आत्मा का पहला रूप है। आत्मा के इस वाचिक स्वरूप को वागात्मा कहा जा सकता है। यहां से साधना प्रारम्भ होती है, इसलिए इसे आत्मा का प्राथमिक स्वरूप समझना चाहिए। वस्तुतः इसके भी पीछे 'विषयात्मा' तो रहता ही है। लेकिन 'विषयात्मा' परमार्थ-साधना की दृष्टि से करीब-करीब 'शून्यात्मा' ही है। इसलिए इस आत्मा की साधना-मार्ग में गिनती नहीं की जा सकती, या की गई तो उसे किसी कक्षा से भिन्न करना पड़ता है। इसलिए इस 'बिना-कक्षा' की स्थिति को पार कर वागात्मा को 'पहली कक्षा' वाला आत्मा कहना पड़ता है। जहां भीतर का 'शब्द' जागा कि मनुष्य अन्तर्मुख होने लगता है। परन्तु इस अवस्था में यह अन्तर की आवाज़ अनिश्चित स्वरूप की होने के कारण, मनुष्य उसे आज़माने के लिए बाहर से ऋषियों का अनुभव, सन्तों की वाणी, इत्यादि शब्द-ब्रह्म की उपासना अथवा श्रवण-भक्ति शुरू करता है। लेकिन इन अन्तर-बाह्य श्रवणों के कारण विचारों की दिशाएं दिखाई देने पर उन सब दिशाओं से मनुष्य की आशा बढ़ने के सिवा, कुछ भी और कार्य नहीं होता। इसके विपरीत, यहीं रुकने पर, गीता में जैसे कहा है, मनुष्य और भी गड़बड़ी में पड़ जाता है। इसलिए इस 'श्रुति-विप्रतिपत्ति' से बाहर निकलने के लिए मनुष्य को सब शब्द-जाल तोड़कर मनन की मानसिक भूमिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर झंडा गाड़ना पड़ता है। यहां से सच्ची लड़ाई की शुरुआत होती है। यह आत्मा का दूसरा 'मनोमय' स्वरूप है। यहां वागात्मा का 'लय' हो जाता है, इसलिए जहां-जहां से मन फूट-फूटकर बहने लगता है वहीं मनोमय आत्मा बांध-बांधकर उसे रोकने का प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न को ही 'धारणा' संज्ञा दी जाती है। श्रोतव्य-भूमिका पर जो विविध दिशाएं दिखाई पड़ गई थीं उनमें से आत्मोन्नति की ध्रुव-दिशा निश्चित करने का काम चूंकि मनन के कुतुबनुमे के द्वारा 'मन्तव्य' की भूमिका पर करना रहता है, इसलिए 'धारणा' की परिभाषा की जाती है—चित्त को विशिष्ट दिशा से बांध डालने का प्रयत्न—'देशबन्धश् चित्तस्य धारणा'—यदि दूसरी उपमा लेकर कहें तो श्रवण के द्वारा भक्षण किये हुए विचारों का मनन की भूमिका पर पाचन होता रहता है। यह पाचन पूरा होने पर विचारों का रूपान्तर ज्ञान-रस होता है। यहां मनन का कार्य समाप्त हो जाने के कारण मनोमय आत्मा का लय ज्ञानात्मा में हो जाता है। 'मन्तव्य'—प्रयत्न का सम्पूर्ण परिपाक होनेपर (ध्यान का) 'निदिध्यासितव्य' प्रयत्न शेष रहता है। यह प्रयत्न इस तीसरी 'ज्ञान-मय' भूमिका पर होने से ज्ञान को निश्चित स्वरूप प्राप्त होता है। इस प्रकार से इस तीसरी भूमिका पर ज्ञान को निश्चितता प्राप्त होनेपर भी, इस निश्चित ज्ञान को समष्टि के व्यापक ज्ञान में लय करना पड़ता है। भूमिति का सिद्धांत अच्छी तरह समझ लेने के बाद, वह व्यवहार में किस तरह और कितने व्याप्त हैं, यह समझने के लिए उन सिद्धांतों पर आधारित भिन्न-भिन्न प्रश्न हल करने पड़ते हैं। इसी प्रकार प्राप्त-ज्ञान का विश्व-संस्था में विनियोग (अप्लिकेशन) किये बिना वह निश्चित होते हुए भी पक्का नहीं हो सकता और उसकी व्याप्ति का भी आकलन नहीं होता। साथ ही ज्ञान निश्चित हो जाने पर अहंकार पर काबू हो जाता हो तो भी उससे काम नहीं चलता। अहंकार को काबू में करने पर उसकी आमूल निवृत्ति करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ती है, और वैसा करने के लिए इस काबू में आये हुए अहंकार को विश्व-व्यापक बनाना पड़ता है। अहंकार में हवा के समान स्थिति-स्थापकत्व का गुण है। छोटी-सी बोतल की हवा निकाल-कर किसी खाली की हुई बड़ी बोतल में डाल दी जाने पर वह उस बड़ी बोतल के किसी एक कोने में समाने लायक होते हुए भी वह उतनी ही जगह में न रहकर खुद को सारी बोतल में फैला देती है। मतलब यह कि उसे जितना क्षेत्र मिलता है उस सारे क्षेत्र में वह छा जाती है। लेकिन इस प्रकार व्यापक बनने में उसके परमाणु अधिक-अधिक खुले होने के कारण इस व्यापकता के साथ ही उसमें विरलता आती है और उस प्रमाण में उसका ज़ोर घट जाता है। अहंकार भी मूलतः छोटी-सी देह में भरा होने के कारण घना और जोरदार होता है। इसी अहंकार को कुटुम्ब तक व्यापक बनाने से उस प्रमाण में विरल होकर उसका ज़ोर उतना ही कम होता है, राष्ट्र तक व्यापक करने पर और भी विरल और वीर्यहीन हो जाता है। और अन्त में,

> अहं भूमिमददामार्याय ।
> अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
> अहमपो अनयं वावशानाः ।
> मम देवासो अनु केतुमायन् ॥

"मैंने ही आर्य-पुरुषों के निवास के लिए भूमि उत्पन्न की, मैंने ही त्यागवृत्तिवाले मनुष्य के लिए (दाशुषे) पर्जन्यवृष्टि निर्माण की, परमेश्वर की महिमा गाते हुए (वावशानाः) पृथिवीतल पर बहनेवाले पवित्र जलों को मैंने ही मार्ग दिखाया, सारे देवता मेरे ही ज्ञान का (केतु) अनुकरण करते हैं (ऋग्वेद, ४-२६-२)", वामदेव की इस श्रुति के अनुसार किंवा "अणुरणीया थोकडा। तुका आकाशाएवढा"—अणुरेणुओं से भी छोटा, तुकाराम आकाश के बराबर है—इस संत-वचन के अनुसार इस अहंकार को विश्व-व्यापक बनाने पर उसके परमाणु अनन्त क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बंट जाने के कारण उनकी सांघिक शक्ति छिन्न-विच्छिन्न हो जाती है। इसलिए व्यावहारिक विनियोग के द्वारा ज्ञान का मटका पकाकर तैयार करने के लिए और अहंकार को निर्वीर्य करने के हेतु से व्यापक करने के लिए यह ज्ञानात्मा विश्व-कर्मा बनने पर, 'एष देवो विश्व-कर्मा महात्मा' इस श्रुतिवचन में जिस तरह बताया है वह आत्मा का चौथा रूप 'महात्मा' प्रकट होता है। तीसरी 'ज्ञानमय' भूमिका प्राप्त होने के पहले अहंकार काबू में न आने से उसे चाहे जैसा झुकाने की ही शक्ति प्राप्त नहीं होती। तीसरी भूमिका में यह शक्ति हाथ आती है। चौथी भूमिका में इस शक्ति की सहायता से अहंकार व्यापक बनाया जाता है। इसके बाद, व्यापक होने के कारण अति विरल बना हुआ यह अहंकार सदा के लिए विलीन होनेपर चौथी भूमिका के 'महान् आत्मा' का 'शांत आत्मा' में अपने-आप ही लय हो जाता है। यह शांत आत्मा आत्मा का परमशुद्ध स्वरूप है, इसलिए इसे साधना की भी पराकाष्ठा या अन्तिम छोर माना जाता है। यह सब अर्थ निम्न उपनिषद्-वाक्य में सूत्ररूप में कहा गया है :

> यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्
> तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि ।
> ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्
> तद् यच्छेच् छान्त आत्मनि ॥ (कठ० ३–१३)

"वाणी का मन में लय किया जाय, मन का ज्ञानात्मा में, ज्ञान का महदात्मा में आखिर में इस महात्मा का शान्त आत्मा में लय किया जाय।"

लेकिन शान्ति शान्ति के बीच भी फर्क है। पत्थर मूलतः शान्त होता है और प्राण-प्रतिष्ठा का सिन्दूर लग जाने के बाद भी वैसे ही रहता है। लेकिन पत्थर की जड़ शान्ति अलग है और देवता की स्फूर्तिकारक शान्ति अलग। पत्थर और देवता दोनों ही एक अर्थ में कर्म-संन्यासी कहे जा सकते हैं। लेकिन देवता के कर्म-संन्यासी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में से भक्त की चक्षुयुक्त श्रद्धा को कर्मयोग की अनन्त किरणें फैली हुई दिखाई देती हैं, इसलिए इस कर्म-संन्यास में जो विशिष्ट सामर्थ्य है वह पत्थर के कर्म-संन्यास में नहीं। यन्त्र अत्यन्त तेजी से घूमता हो या बिलकुल स्तब्ध हो, बाह्य दृष्टि से वह एक-जैसा ही दिखाई देता है। उसी प्रकार पत्थर और देवता दोनों स्थूल-दृष्टि को एक समान ही दिखाई दें,पर देवता का प्रचण्ड कर्म-प्रेरकत्व पत्थर में नहीं है, इसलिए फर्क यह होता है कि एक के पैरों पर सिर रखा जाता है और दूसरे के सिर पर पैर रखे जाते हैं। शान्ति-जलधि वसिष्ठ ऋषि की शान्ति का वर्णन करते हुए इन्द्र के उद्गार हैं कि—'इनकी (शान्ति) महिमा समुद्र-जैसी गंभीर है'–समुद्रस्येव महिमा गंभीरः, और साथ ही उनके साहस को लक्ष्य कर 'इनके वायुवेग की किसीसे तुलना नहीं हो सकती'—वातस्येव प्रजवो नान्येन–(ऋग्वेद ७-३३-८)। चूंकि वसिष्ठ ऋषि की चैतन्य-मय शान्ति और श्मशान की भीषण शान्ति में फर्क है, इसलिए 'विश्व-कर्मा महान् आत्मा' जिस शान्ति का अनुभव करते हैं, वह शान्ति आत्मा का शुद्ध रूप है, ऐसा ऋषियों ने कहा है। "मैं 'अ'-कार से पृथिवी जैसा दृढ़, 'उ'-कार से अन्तरिक्ष जैसा गहरा, 'म्'-कार से स्वर्ग के जैसा ऊंचा हूं; इतना ही नहीं, पर इन तीन मात्राओं से मैं त्रिभुवन-व्यापी विश्व-रूप हूं।"–इतने ध्यान से भी ऋषि को संतोष नहीं होता। "आधी मात्रा से मैं तीन लोकों के परे, तीनों लोकों को इच्छा के अनुसार झुकाकर रूप देनेवाला, विश्वकर्मा हूं।" यह है उनकी ध्यान-भावना। इसलिए वाणी का मनन में लय कर, निश्चित ज्ञान प्राप्त हो जानेपर भी, जबतक उस ज्ञान से आत्मा (महान्) विश्व-संग्रह-समर्थ नहीं बन जाता, अथवा दूसरे शब्दों में, जबतक प्राप्त ज्ञान से विश्व-संग्रह का मंथन नहीं किया जाता, तब-तक ऋषि के मतानुसार शान्ति-रूप नवनीत का दर्शन नहीं होता। ब्रह्मज्ञान से मनुष्य को शांति मिल जाने पर, कहते हैं, फिर वह इस विश्व के कर्म-चक्र में नहीं आता—'यद्गत्वा न निवर्तन्ते'—लेकिन इसका यही अर्थ करने का कोई कारण नहीं कि वह कर्म-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शून्य ही बन जाता है। उलटे, 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' का अर्थ 'शान्ति प्राप्त होने के बाद निवृत्ति है ही नहीं', भी किया जा सकता है। हम कर्मयोग का कितना ही दिखावा करें फिर भी चूंकि हमें शरीर का बन्धन है, इसलिए नींद आदि कुछ तो विश्रान्ति या निवृत्ति भोगनी ही पड़ती है। लेकिन शुद्ध आत्मा को ऐसा कोई भी बन्धन नहीं है, इसलिए उसकी अखण्ड, अविश्रान्त प्रवृत्ति जारी रहने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। शान्ति का अर्थ है कर्म की झंझट न हो, यह कहना गलत नहीं है। लेकिन 'व्हाई शुड् ऑल लाइफ लेबर बी ?'—सारा जीवन कर्म-झंझटमय ही क्यों करे ?—ऐसा टेनिसन् द्वारा उठाया हुआ प्रश्न सच्ची शान्ति के सामने नहीं टिकता। अतः शान्ति को कर्म 'झंझट' नहीं मालूम देता, यही इस कथन का अर्थ किया जाना चाहिए। संत स्वयं का वर्णन करते हुए 'निजों तरी जागे' (नींद में भी जागे हुए) कहते हैं, और वैदिक ऋषि भी 'न मा तमत् न श्रमत् नोत तन्द्रत्' (ऋग्वेद २-३०-७)—हमें आलस्य, थकावट, नींद बिलकुल न आये—ऐसी इच्छा करते हैं। सारा जीवन कर्म-झंझट से भरा ही क्यों रहे ? यह रोना उनकी शान्ति को ज्ञात नहीं था।

शान्ति, निवृत्ति इत्यादि शब्दों के अर्थों पर अभी काफी धूल जमी हुई है। इसलिए ऋषि-वचनों का वास्तविक अर्थ हमारी बुद्धि की पहुंच के परे चला गया है। शान्ति या निवृत्ति का अर्थ अकर्मण्यता नहीं है। खुद भगवान बार-बार अवतार लेकर धर्म-संस्थापन के कर्म करते हैं। 'बार-बार' शब्द भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसा वेदों में कहा गया है "त्रीणि पदा विचक्रमे। विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। अतो धर्माणि धारयन्" (ऋग्वेद १–२२–१८) विश्वगोप्ता निर्दंभ परमेश्वर तीन कदम रखकर (यानी तीन मात्रा के योग से) धर्म-धारण का काम 'सतत' करता ही रहता है, तथापि हमें स्पष्ट प्रतीत होनेवाले जो उनके कार्य होते हैं उन्हींको हम अवतार-कार्य कहकर पहचानते हैं। इस रीति से परमेश्वर के 'दिव्य जन्म-कर्म' (गीता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४-६) रात-दिन चलते रहते हैं। अनासक्ति की आधी मात्रा (जिसे 'तद् विष्णोः परमं पदम्' यानी 'विष्णु का बड़ा पद' कहते हैं वह) पास होने से, उसकी शान्ति को बाधा नहीं पहुंचती। यह ध्यान में रखनेपर शान्ति का सच्चा अर्थ क्या हो, यह स्पष्ट होगा। शान्ति का अर्थ कर्म में से या दुनिया से छूटना नहीं है। स्वतन्त्रता से, ज्ञानपूर्वक, अनासक्त रहकर कर्म करना—यही उसका अर्थ है। यह कर्म सत्कर्म ही होने चाहिए। 'मुक्ति' का अर्थ है 'मृत्योः मृत्युः'—मरण का मरण, जीवन का मरण नहीं। इसलिए इस मुक्ति की शान्त भूमिका पर अखंड (सत्-) कर्म चलते रहते हैं। परन्तु यह (सत्) कर्म उस अवस्था में स्वतन्त्र इच्छा से होते हैं और आत्मा उनसे लिप्त नहीं होती। इसलिए इस अवस्था को 'निवृत्ति', 'मुक्ति' या 'शान्ति', ये संज्ञाएं दी गई हैं। जीवन का, सत्कर्म का, या इच्छा-शक्ति का स्वरूपतः आत्यंतिक नाश ऐसा शान्ति का शून्यात्मक स्वरूप नहीं है। वह तो अनन्तात्मक है। आकाश को शून्य की संज्ञा है, फिर भी वह अनन्त है। उसी प्रकार से शान्ति को निवृत्ति नाम मिलता हो फिर भी इस निवृत्ति में अनन्त प्रवृत्ति की प्रेरणा है, इसलिए उसके अनुष्ठान से कर्तृत्व-शून्यता प्राप्त नहीं होती। कृतकृत्यता का अनुभव होता है।

४

शान्ति ही चूंकि ॐकार की उपासना का साधन, स्वरूप और साध्य है, इसलिए वह ऋषियों के सारे तत्त्व-ज्ञान का केन्द्र है। जिस प्रकार पहिये की गड़ारी में आरे जमाये हुए रहते हैं, उसी प्रकार से ऋषि के सारे तात्त्विक विचार इस शान्ति के आस-पास इकट्ठे हुए हैं। आत्मा का वर्णन भी ऋषि शान्ति की ही भाषा में करते हैं। बाष्कली ने जब बाध्व से आत्म-स्वरूप के बारे में प्रश्न पूछा तो उसने पहले मौन से ही उसका उत्तर दिया। लेकिन उस मौन व्याख्यान को वह समझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं सका, इसलिए आखिर 'उपशान्तोऽयमात्मा'—आत्मा शान्त है—यह सूत्र कहकर वह अलग हो गया। गीता में भी 'नायं हन्ति'—आत्मा मरता नहीं, 'न हन्यते'—न मारा जाता है, और न 'घातयति'—न घात करवाता है, इस प्रकार से आत्मा की त्रिविध शान्ति का वर्णन किया गया है। जुल्म करनेवाला, जुल्म के वश होनेवाला और जुल्म करवानेवाला तीनों शान्ति-व्रत के शत्रु हैं। काम जुल्म करवाता है, क्रोध जुल्म करता है और लोभ जुल्म के वश होता है—ऐसी स्थिति होने के कारण गीता ने इन्हें नर्क के तीन क़िले माना है (गी. १६–२१)। इन तीन किलों को जमींदोज किये बिना शान्ति का साम्राज्य स्थापित नहीं हो सकता। इन किलों पर जो तीन तोपें दागनी होती हैं उनकी जानकारी उपनिषत्कारों ने एक मनोरंजक आख्यायिका में दी है :

"प्रजापति की देवता, मनुष्य और असुर ऐसी तीन प्रकार की प्रजा थी। तीनों अपने पिता प्रजापति को गुरु समझकर पिता के घर ही ब्रह्मचर्य से रहे। अध्ययन पूर्ण होने के बाद, देवता प्रजापति के पास जाकर कहने लगे—हमें कोई मन्त्र दीजिये। प्रजापति बोला, 'द'। फिर प्रजापति ने उनसे पूछा, 'तुम समझे ? क्या ?' देवता बोले—'समझ गये। दमन कीजिये, यही आपने कहा न ?'—'ठीक, तुम सही समझे हो।' उनके बाद मनुष्यों ने प्रजापति से मंत्र मांगा। प्रजापति ने 'द' मंत्र उन्हें भी दिया। 'तुम समझे? क्या ?' 'समझ गये। दान करो,यही आपने कहा न ?' 'ठीक, तुम सही समझे हो।' आखिर में असुरों ने मन्त्र मांगा। उन्हें भी वही मंत्र मिला—'द'। 'तुम समझे ? क्या ?' 'समझ गये। दया करो, यह आपने कहा न ?' 'ठीक, तुम सही समझे हो।' आज भी मेघ-गर्जना के रूप में दिव्य वाणी इसी त्रिविध मंत्र का अनुवाद करती रहती है—'द ! द ! द !'—दमन करो, दान करो, दया करो। दमन-दान-दया इन तीनों की शिक्षा लेना हरेक का कर्त्तव्य है। शिक्षा और मानस दोनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्त्रों की दृष्टि से यह आख्यायिका मनन-योग्य है। वेदादिकों का अर्थ करने की पद्धति भी इस आख्यायिका में सूचित की गई है। देवता दूसरे सारे उत्तम गुणों से सम्पन्न होते हुए भी आत्मपरीक्षण के द्वारा 'हम कामासक्त हैं' यह उन्हें दिखाई देने पर, जिस साधन से उनकी कामवृत्ति का समूल नाश किया जा सकेगा, वह इन्द्रिय-दमन का साधन उन्होंने 'द' अक्षर से प्राप्त कर लिया। देव चूंकि 'भोग-योनि' माने गये हैं, इसलिए उस योनि में काम का ज़ोर होना स्वाभाविक है। इसलिए प्रजापति ने भी देवताओं का आत्म-परीक्षण द्वारा निश्चित किया हुआ अर्थ मान्य कर लिया। उसी प्रकार मनुष्यों ने जब आत्म-परीक्षण करके देखा तो उन्हें अपने में लोभ की प्रधानता दिखाई दी, और इसलिए उन्होंने 'द'—कार में से लोभ को मारनेवाले दान का अर्थ ग्रहण किया, और उसे भी प्रजापति ने स्वीकार किया। उसी प्रकार असुरों को अपने में क्रोध का प्राबल्य दिखाई दिया। इस क्रोध-वृत्ति को उखाड़ फेंकने के लिए मनन करके उन्होंने 'द'—कार में से दया अर्थ खोज निकाला, और प्रजापति को पहले दो अर्थों जैसा ही वह भी पसन्द आया। मंत्र का अर्थ मनन द्वारा खोजना पड़ता है। मंत्र का सम्बन्ध मेरे जीवन से है, इस बात को ध्यान में रखकर, आत्म-निरीक्षण-पूर्वक, या 'अहं' से सम्बन्ध रखकर, मुझे मंत्र का अर्थ निश्चित करना चाहिए। अंकगणित के लाभ-हानि के सवालों से मेरा अपना कोई नफा-नुकसान नहीं होता, इसलिए जिस 'निरहंकार' वृत्ति से मैं उन सवालों को हल करता हूं, उसी 'निरहंकार' वृत्ति से मंत्र का अर्थ नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि 'अहं'—पूर्वक स्वतः को मंत्र से बांधकर, भावना-युक्त मनन के द्वारा आत्म-परीक्षण करके मंत्र का अर्थ निश्चित करना होता है, और इस प्रकार निश्चित किया हुआ अर्थ भी मुझतक ही सही होने के कारण, दूसरों पर लादा नहीं जा सकता। इस प्रकार 'अहं'—बद्ध मनन द्वारा निश्चित किये हुए अर्थ कितने ही भिन्न-भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों, फिर भी विरोधी नहीं हो सकते। और ये सारे भिन्न-भिन्न— और सहज ही अविरोधी—अर्थ मंत्र को मान्य होकर उनकी कृत्रिम एक-वाक्यता बनाने की आवश्यकता भी नहीं रहेगी। इस दृष्टि से ॐकार की तीनों मात्राओं के आत्मानुभवपूर्वक भिन्न-भिन्न स्वतंत्र अर्थ करने की सभीको समान छूट है। फिर भी काम, क्रोध और लोभ चूंकि सभी मनुष्यों में सामान्यतः जाति-सुलभ दोष हैं, इसलिए ॐकार की तीन मात्राओं के (इन्द्रिय-) दमन, दान (अथवा परार्थ-बुद्धि) और दया के तीन अर्थ स्वीकार करने में कुछ भी हर्ज नहीं होना चाहिए। (बृ. भाष्य)। 'अ'-कार से जहां इन्द्रिय-दमन का ग्रीष्म दहकने लगा कि हिंसा करवानेवाला काम झुलस जायगा और आत्मा का 'न घातयति' वाला निष्काम स्वरूप प्रकट होगा, 'उ'-कार से दया-वृत्ति का जाड़ा चमका कि हिंसा करनेवाला क्रोध ठिठुर जायगा और आत्मा का 'न हन्ति' वाला निर्वेद स्वरूप दिखाई देने लगेगा और 'म्'-कार से दानबुद्धि की वर्षा जहां शुरू हुई कि हिंसा के वश होनेवाला लोभ घुल जायगा और आत्मा को 'न हन्यते' वाले निर्लोभ स्वरूप का अनुभव होगा। दमन, दया और दान, ॐकार की इन तीन मात्राओं की नैष्ठिक उपासना करने पर, आचार्यों की भाषा में, हिंसा का कर्तृत्व, हिंसा का कर्मत्त्व और हिंसा का हेतु-कर्तृत्व (यानी प्रेरकत्व) तीनों उड़ जायंगे और आधी मात्रा से परिपूर्ण 'शान्त आत्मा' प्रतीत होगा। कृत-कारित-अनुमोदित (योगसूत्र २—३४) तीनों हिंसाओं से दूर रहकर, निष्काम, निर्वैर, निर्लोभ शान्ति का अनुष्ठान करना हो, चूंकि सम्पूर्ण ॐकारोपासना का रहस्य है, इसलिए त्रिविध साधना सूचित करने की दृष्टि से ॐकार का अवतरण करके 'शान्ति' शब्द का त्रिवार घोष किया जाता है। यह त्रिविध शान्ति शान्त आत्मा के या 'शिव' के तीन नेत्र होने के कारण शान्ति के परम उपासक महर्षि वसिष्ठ शान्ति-त्रयात्मक 'त्र्यम्बक' की प्रार्थना ऋग्वेद में निम्न शब्दों में करते हैं :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि-वर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्यो् मुक्षीय मामृतात् ।।

"जिसने अपने तीन नेत्रों से काम-क्रोध-लोभ का दहन किया है, उस शान्त तेज की हम उपासना करते हैं। उसकी कृपा से चूंकि जीवन की सारी अपवित्रता धुल जाती है और (सुगंधि) आत्मिक पुष्टि प्राप्त होती है, इसलिए अब हमारी इतनी ही अभिलाषा है कि जैसे कोई पका फल अपने डंठल से छूटता है, उसी प्रकार हम भी मृत्यु से मुक्त हों, लेकिन इस (शान्ति-समृद्ध) अमृत से कभी भी मुक्त न हों।" यही मंत्र यजुर्वेद में भी लिया गया है। लेकिन उसमें आगे कुछ परिवर्तित,

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पति-वेदनम् ।
उर्वारुकमिव बंधनादितो मुक्षीय माऽमुतः ।।

ऐसा दूसरा मंत्र दिया गया है। 'मी-इतः—यहां से मुक्त हों,—अमुतः—वहां से मुक्त न हों', इसमें इतः यानी मृत्यु से और 'अमुतः' यानी 'अमृत से' उद्दिष्ट अर्थ होने पर भी, चूंकि पतिवेदनम् (पति से भेंट करवा देनेवाला) शब्द से श्लेष निकाला जा सकता है, इसलिए, 'इतः' यानी पितृगृह से और 'अमुतः' यानी पतिगृह से, इस प्रकार बाह्य अर्थ का रूपक बनाकर यह मंत्र विवाहोपयोगी माना जाता है। चूंकि जीव-शिव की भेंट एक प्रकार से विवाह ही है, इसलिए सभीको इस विवाह-मंत्र का मनन करके, ॐकार रूप त्र्यम्बक के तीनों नेत्रों की (यानी मात्राओं की) त्रिविध शान्ति की किरणें 'हृदय-गुफा' में प्रवेश करें, ऐसा सतत प्रयत्न करना चाहिए। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ३ :

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

१

काम-क्रोध लोभातीत शान्ति ही आत्मा का परम शुद्ध स्वरूप है और इसलिए ॐकारोपासना का उपास्य देवता होने के कारण ॐकार और शान्ति शब्द ऋषियों को पर्याय रूप ही जान पड़ते हैं। शिव के हृदय में विष्णु और विष्णु के हृदय में शिव—शिवस्य हृदये विष्णुर् विष्णोश् च हृदये शिवः—इसी प्रकार ऋषियों को ॐकारोपासना में शान्ति और शान्ति में ॐकारोपासना ओतप्रोत दिखाई देती है। ॐकार से जैसे वे शान्ति को अलग नहीं कर सकते वैसे ही ॐकार की भी शान्ति से अलग कल्पना नहीं कर सकते। इन दोनों का इतना अव्यभिचारी साहचर्य ऋषियों को अभिप्रेत है। इसका प्रत्यय यजुर्वेद के छत्तीसवें अध्याय में देखने-योग्य है। यजुर्वेद में कुल चालीस अध्याय हैं। उनमें छत्तीसवां अध्याय 'शान्ति पाठार्थ' के नाम से प्रसिद्ध है। अतएव उसमें ऋषियों के प्रिय शान्ति-गीत सुनने को मिलेंगे, ऐसा विचार सहज ही होता है। यदि ऋषियों की भावनाओं से परिचय न हो तो ॐकारोपासना के वर्णन की अपेक्षा कोई नहीं कर सकेगा। और सरसरी तौर से देखने पर इस शान्ति-पाठ के अध्याय में शान्ति के मधुर आलाप जैसे स्पष्ट सुनाई पड़ते हैं उस प्रमाण में ॐकार का वाणी-रव उतना स्पष्ट नहीं सुनाई पड़ता। लेकिन यदि कुछ सूक्ष्मता-पूर्वक श्रवण किया जाय तो ऋषि ॐकार के सुर में ही गा रहा है, यह ध्यान में आता है। बिलकुल पहले मंत्र में ही :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऋचं वाचं प्रपद्ये। मनो यजुः प्रपद्ये।
साम प्राणं प्रपद्ये। चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये॥

—मैं ऋग्वेद-रूपी वाणी का, यजुर्वेद-रूपी मन का, सामवेद-रूपी प्राण का और चक्षुः श्रोत्रों का आश्रय लेता हूं—कहकर ॐकार की तीनों मात्राओं का अवतरण सूचित किया गया है। 'ऋक्-यजुस्-साम' ये जीवन के मुख्य तत्त्व हैं। इनका अर्थ है ज्ञान, (निष्काम) कर्म और समत्व-बुद्धि (या भक्ति) यह पहले बताया जा चुका है। उसी प्रकार अ=वाक, उ=मन, और म्=प्राण, यह अर्थ भी प्रसिद्ध ही है। 'अ'-कार का अर्थ वाक् करते समय वाक् को उपलक्षण मानकर उसीमें इसकी इन्द्रियों का भी समावेश किया जाता है। फिर भी सभी इन्द्रियों के चूंकि कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय ऐसे दो विभाग किये जाते हैं, और वाणी कर्मेन्द्रियों में गिनी जाती है, इसलिए चक्षुः-श्रोत्र का ज्ञानेन्द्रियों का प्रतिनिधि के रूप में स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इस मंत्र से केनोपनिषद् का पहला मंत्र मिलाने योग्य है। वहां भी मन, प्राण और वाक् का तीन स्वतंत्र चरणों में उल्लेख करके चक्षुः-श्रोत्र को चौथे चरण के ओसारे में जगह दी गई है। लेकिन आगे चलकर उमा की जो आख्यायिका दी गई है, उसमें अग्नि, वायु और इन्द्र इन तीनों का ही उल्लेख है। अतः कहना होता है कि वाक्, मन और प्राण, ये तीन ही मुख्यतः विवक्षित हैं, क्योंकि अकार यानी अग्नि, उकार यानी वायु और मकार यानी इन्द्र या आदित्य, यह अर्थ अन्यत्र बताया जा चुका है। और ये अग्नि-वायु-इन्द्र वाक्, मन और प्राण के ही स्वरूप हैं, ऐसा जान पड़ता है। उमा की सहायता के बिना ये तीनों देवता यक्ष का स्वरूप नहीं समझ सके थे। इसका अर्थ यह है कि तीनों मात्राओं से परे रहनेवाली आधी मात्रा जबतक नहीं मिलती तबतक सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। समूचे केनोपनिषद् के पूर्वापर पर्यालोचन के बाद यह दिखाई पड़ता है कि यह उप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषद् ॐकारोपासना के अखण्ड सूत्र में पिरोया हुआ है। इसलिए केनोपनिषद् में जैसे ॐकार की दृष्टि से वाङ्—मनः—प्राण की विवक्षा है, और उपनिषदों की भाषा में जिन्हें पंच-प्राण कहते हैं उन सारी शक्तियों का संग्रह हो, इस हेतु से चक्षुः-श्रोत्र का उल्लेख आया है, उसी प्रकार इस शान्ति-पाठ के अध्याय के पहले मंत्र की भी स्थिति है। चूंकि वाक् शब्द स्त्रीलिंगी, मनस् नपुंसकलिंगी और प्राण पुल्लिंगी हैं, इसलिए जैसा कौषीतकी में कहा गया है उस प्रकार से 'वाक्' शब्द से समूची स्त्रीलिंगी संज्ञाओं का, मनस् शब्द से सारी नपुंसकलिंगी संज्ञाओं का और प्राण शब्द से और सब पुल्लिंगी संज्ञाओं का संग्रह कर (कौ. १–७) इन तीन मात्राओं के द्वारा ऋषि ॐकार का विश्वरूप-दर्शन सूचित करना चाहते हैं।

इस प्रकार पहले मंत्र में ॐकार सुझाकर ऋषि ने दूसरे मंत्र में शान्ति का आह्वान किया है :

यन् मे छिद्रं चक्षुषो।
हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णम्।
बृहस्पतिर् मे तद् दधातु
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः॥

"हमारी इन्द्रियों की अव्याप्त-वृत्ति और मन की अति-व्याप्त वृत्ति बृहस्पति दूर करें! त्रिभुवनेश्वर की कृपा से हमें शान्ति का शाश्वत स्थान प्राप्त हो।" इस प्रकार से इस मन्त्र में ऋषि ने बृहस्पति की प्रार्थना की है। यह बृहस्पति यानी विश्व का पति होने की बात यहां बताई गई है और वेदों ने इसीको 'ब्रह्मणस्-पति' या 'गण-पति' संज्ञा दी है। और उद्-गीथ भी यही 'ब्रह्मणस्-पति' और बृहस्-पति ही है, ऐसा दुहेरा स्पष्ट विधान उपनिषदों में (बृ. १-२०-२१) है। इसलिए इस मंत्र में ऋषि शान्ति का पता लगाते समय ॐकार से ही रास्ता पूछते हैं, इसमें शक नहीं रहता। अधिकार की अव्याप्त व्याख्या के कारण एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर से, और अतिव्याप्त व्याख्या के कारण दूसरी ओर से, मनुष्य हिंसा किया करता है। इन दोनों हिंसाओं से परावृत्त हुए बिना शान्ति के दर्शन नहीं हो सकते, इसलिए भक्त ॐकार से प्रार्थना करता है कि स्वयं इन दोनों हिंसाओं से स्पर्शित न हो। बाह्य इन्द्रियां अधिकार की अव्याप्त-व्याख्या करती हैं और मन प्रायः अति-व्याप्त व्याख्या करता है। इन्द्रियों की शक्ति मर्यादित होने के कारण उनके साथ मनुष्य का अधिकार किंवा ममता का क्षेत्र बहुत संकुचित, या शास्त्रीय भाषा में अव्याप्त हो जाता है। आंखों को बहुत दूरतक दिखाई नहीं दे सकता, इसलिए 'चक्षुर् वै सत्यम्' का अधूरी कल्पना पर भरोसा कर बैठने पर 'आंख से परे सो दुनिया से परे', ऐसी स्थिति होती है और सम्पूर्ण जगत अहं की छोटी-सी जगह में घिर जाता है, इसलिए परार्थ का दम घुटने लगता है। श्मशान में बैठकर मैं मिष्टान्न नहीं खा सकता। लेकिन श्मशान को अपने जगत से दूर रखकर विलास कर सकता हूं। पशु का चमड़ा उतारते समय मुझसे देखा नहीं जाता, लेकिन उस उतारे हुए चमड़े के जूते इस्तेमाल करने में मुझे अपत्ति नहीं मालूम होती। इतना ही नहीं, उसके बदले में मैं चमार को अस्पृश्यता का इनाम भी दे सकता हूं। यह सब इन्द्रियों की अ-दूर-दर्शिता का परिणाम है। इन्द्रियां अखण्ड विश्व का छेदन करके मनुष्य को उसके एक खण्ड या टुकड़े का दर्शन कराती हैं। इसीको ऋषियों ने 'छिद्र' कहा है। इन्द्रियों के बनाये हुए छोटे-से छिद्र या बिल में रहनेवाले को उस बिल के बाहर की सृष्टि की परवा नहीं हो सकती। ऐसी छिद्राभिमान की क्षुद्र वृत्ति के पैदा होने पर स्वार्थ-परार्थ का विरोध खड़ा होता है, जिससे जीवनार्थ-कलह की शुरुआत होती है। इन्द्रिय-विज्ञान द्वारा भेद की दीवारें खड़ी की जाती हैं और कुटुंम्बाभिमान, जात्यभिमान, राष्ट्राभिमान इत्यादि छिद्राभिमान के छोटे-बड़े किले तैयार हो जाते हैं और इन किलों का आश्रय लेकर हरकोई दूसरे से विग्रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू करता है। इन्द्रियों ने पुरुषार्थ की या मनुष्य के अधिकारों की संकुचित, संकरी, स्वार्थी, अव्याप्त व्याख्या की है। इसलिए लोक-विग्रह के लिए हिंसा की प्रवृत्ति होकर शान्ति का लोप होता है। लेकिन अधिकारों की अव्याप्ति में से जैसे लोक-विग्रहात्मक हिंसा प्रवृत्त होती है, वैसे ही अधिकारों की अति-व्याप्ति से लोकसंग्रहात्मक हिंसा का जन्म होता है। इन्द्रियों की शक्ति मर्यादित होने के कारण जब चर्म-चक्षु लोक-विग्रह की हिंसा में जा गिरता है तो मन की वृत्ति मर्यादा का उल्लंघन (अति-तृणम्) करने की ओर है, इसलिए ज्ञान-चक्षु के लोक-संग्रह की हिंसा में फंस जाने की सम्भावना बनी रहती है। मन की दौड़ बहुत होने के कारण इस अप्रतिष्ठित डगमगाती नींव पर जीवन की इमारत खड़ी करनेवाला मनुष्य परार्थ का लालच रखकर आत्मार्थ या परमार्थ को खो देता है। परमार्थ की ओर ध्यान न देते हुए अहंकार को जहां परार्थ-सेवन का नशा चढ़ाने-वाला चस्का लगा कि 'दिये-तले अंधेरे' जैसी स्थिति पैदा होती है, और मनुष्य को दूर का लोक-संग्रह तो दिखने लगता है, लेकिन अपने पैर के नीचे क्या जल रहा है उसका भान नहीं रहता। सामाजिक सुखों का संशोधन करने में आत्मा की उन्नति का अनुसंधान छूट जाता है, और मनुष्य हिंसात्मक साधन स्वीकार करने लगता है। "परार्थ-साधना का पवित्र साध्य सिद्ध करने के लिए अपवित्र माने गये साधनों का भी उपयोग कर लेने में क्या हर्ज है?"—ये आसुरी तर्क मनुष्य को सूझने लगते हैं, बल्कि व्यक्ति की दृष्टि से जिनकी गणना दुर्गुणों में होती है वे सामाजिक दृष्टि से सद्गुण हो सकते हैं, ऐसे हेत्वाभासात्मक समर्थन खोज-कर मनुष्य आत्मवंचना, और उसके द्वारा आत्मनाश, कर लेता है। यह सब अपने अधिकार की मर्यादा न समझकर जहां-तहां मुंह मारने की उन्मत्त वृत्ति का परिणाम है। वेदों में इस वृत्ति का वर्णन 'सानुको वृकः' शब्दों से किया गया है। 'सानु' यानी शिखर या सींग है, इसलिए 'सानुको वृकः' का अर्थ है 'जिनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सींग उगे हैं ऐसे भेड़िये।' स्वार्थ की दुनिया में लोक-विग्रहात्मक हिंसा सींग उगे हुए नहीं रहती और परार्थ के संसार की लोक-संग्रहात्मक हिंसा का समर्थन करनेवाले तत्त्वज्ञान के सींग होते हैं, इतना ही फर्क है। सारांश यह है कि बुद्धि के द्वारा मनुष्य के अधिकार की अति-व्याप्त व्याख्या की जाने के कारण, लोक-संग्रहार्थ हिंसा की प्रवृत्ति होती है और शान्ति का नाश होता है। अ-दूरदर्शी स्व-सुख-वाद परार्थ की हिंसा करता है। दूरदर्शी जन-सुख-वाद परमार्थ की हिंसा करता है। इन्द्रियों के सेवक लोक-विग्रहात्मक 'नंगी' हिंसा करते हैं और बुद्धि के उपासक लोक-संग्रहात्मक 'दिगम्बर' हिंसा करते हैं, क्योंकि उनकी हिंसा अपने आसपास समर्थन का दिग्-वस्त्र लपेटे रहती है। इन्द्रियों का 'प्रत्यक्ष' और मन का 'अनुमान' दोनों हिंसक सिद्ध हो जाने के कारण आखिर ऋषियों ने निश्चित किया है कि 'शब्द'-ब्रह्म या (बृहस्-पतिरूप) ॐकार की शरण गये बिना शान्ति के ध्रुवतत्त्व का पता लगना असम्भव है।

उपक्रम के इन दो मंत्रों ॐकार और शान्ति के बीच जो आत्मीयता का सम्बन्ध प्रकट होता है, उसकी उपसंहार के मंत्रों से तो और भी दृढ़ प्रतीति होती है। पहले मंत्र में परोक्ष-रीति से ॐकार का सूत-उवाच करने के बाद दूसरे मंत्र में इस ॐकार के सिवा शान्ति के लिए दूसरी जगह नहीं रहती, यह दिखाया गया है। प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों के हार जाने के कारण, मजबूरन शब्द-प्रमाण की शरण लेनी पड़ती है, इसलिए आगे ऋग्वेद की ऋचाओं में प्रायः शान्ति की अर्चना की गई है। और आखिर उपसंहार में,

> **द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः।**
> **विश्वे देवाः शान्तिर् ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः॥**
> **शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥**

इस प्रकार ॐकार और शान्ति का परस्पर अनन्य-गति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुण और सुवः=सतोगुण की कल्पना करने पर महस्=निस्त्रैगुण्य वृत्ति आयगी। लेकिन इस प्रकार चाहे जितने भिन्न-भिन्न स्वरूप बदलें, फिर भी उन सबमें अन्त तक एक अखण्ड तन्तु दिखाई देता है। इस सौभाग्य-तन्तु को ही ऋषियों ने 'शान्ति' नाम दिया है। इसलिए "द्यौः शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिः, पृथिवी शान्तिः" इस मंत्र-वर्ण में यह स्पष्ट भाव दर्शाया है कि आप "तीनों मात्राओं का कैसा ही अर्थ करें, सब अर्थों का चूंकि शान्ति ही अन्तिम फलित है, इसलिए यही सब वेदार्थ का संग्रहात्मक सार हैं।" इसलिए 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस संकल्प में शान्ति के तीन बार उच्चारण का अभिप्राय है, 'अकारः शान्तिः, उकारः शान्तिर्, मकारः शान्तिः।' अकार के भिन्न-भिन्न पर्याय इसमें मान लिये गए हैं। उदाहरणार्थ "वाक् शान्तिर्, मनः शान्तिः, प्राणः शान्तिः," इत्यादि सारे वाक्यों का समावेश इस महावाक्य में समझना है।

२

यहांतक शान्ति का विस्तृत 'विवेचन' करने के बाद शान्ति क्या है, यह समझने की बुद्धि की तैयारी हो जाने के कारण, आखिर ऋषियों ने शान्ति की संक्षेप में किन्तु असंदिग्ध 'व्याख्या' कर 'सा मा शान्तिरेधि'—यह अद्वैतात्मक शान्ति मुझे मिले—ॐकार की आधी मात्रा से यही एक नम्र प्रार्थना की है। "शान्तिरेव शान्तिः"—शान्ति यानी शान्ति ही—यह ऋषियों की सीधी-सादी और सहज व्याख्या है। लेकिन विस्तृत विवेचन का पहाड़ खोदकर अन्त में यदि ऐसी आसान व्याख्या का चूहा ही निकालना था तो इतने-से के लिए ऋषियों की ही क्या आवश्यकता थी? छोटे बच्चे को पूछें कि तेरी मां का नाम क्या है? और वह तुरन्त उत्तर दे 'मां का नाम मां है'! ऐसी बचपन-भरी लघु-व्याख्या दीर्घ विवेचन के बाद बताना क्या अजीब नहीं है? 'प्रस्तर का मतलब है पत्थर' ऐसी व्याख्या करनेवाले ने आखिर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना खयाल तो रखा कि चूंकि वह प्रस्तर की व्याख्या कर रहा है, इसलिए उसमें प्रस्तर शब्द दुबारा लाना उचित नहीं। लेकिन यह बात भी इस व्याख्या में नहीं दिखाई देती, बल्कि 'जिसमें घटत्व है वह घट' इस प्रकार की न्याय-शास्त्र की व्याख्याओं को भी शान्ति की यह आर्ष व्याख्या मात देनेवाली है, इसमें शक नहीं। न्याय-शास्त्र का दोष वैसे ही है जैसे बालक बीज-गणित के सवाल हल करते समय कभी-कभी 'क' के बराबर 'क' दिखाते हैं। लेकिन बालक तो 'क' की कीमत के बराबर 'क' दिखाते हैं, और यह ऋषि तो 'क' की कीमत ही 'क' कहता है। इस तरह का आक्रमण यदि कोई करे, तब भी ऋषि उसे क्षमा ही करेंगे। ऋषियों की भाषा छोटे-से बालक-सी है, यह बात गलत नहीं है, क्योंकि 'पांडित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्'—पाण्डित्य के पीछे न पड़कर बालवृत्ति से रहना—तो ऋषियों का कुल-व्रत ही है। लेकिन ऋषियों का कहना यह नहीं है कि शान्ति यानी शान्ति बल्कि वे उसमें 'ही' भी जोड़ते हैं। इसपर थोड़ा ध्यान देना जरूरी है। इस 'ही' ने क्या फर्क कर दिया है? रात के समय आकाश के तारे देखते हुए मैं 'यह ध्रुव' कहकर एक तारा बतलाता हूं। तब यदि कोई कहता है कि नहीं, वह ध्रुव नहीं, ध्रुव दूसरा है, तब मैं 'ही' का उपयोग करके फिर कहता हूं कि 'ध्रुव यही है।' इसलिए सामान्य माने जानेवाले किन्तु अन्याय के द्वारा यावज्-जीवन अर्थ-संचय करनेवाले स्वार्थ-लुब्ध पुरुष के प्रति कहे गये भगवद्-गीता के इस वचन में कि वह सारे समाज में प्रतिष्ठित शिष्टतापूर्वक सिर उठाकर घूमता हो, और लोग भी उसे 'सम्मान्य' कहकर संबोधित करते हों, फिर भी परमेश्वर के दरबार में चूंकि उसे सिर ऊंचा करने को जगह नहीं है, इसलिए वह चोर ही है—'स्तेन एव सः'—यद्यपि चोर नहीं माना जाता। जिस उद्देश्य से 'ही' आया हुआ है, उसी उद्देश्य से, यानी अन्य-पक्ष की व्यावृत्ति करने के लिए, शान्ति की व्याख्या में यह 'ही' साभिप्राय आया है। चूंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शान्ति यानी शान्ति नहीं' यह पक्षोपन्यास प्रचलित है, इसलिए इसका निषेध करने के लिए 'ही' का उपयोग करके 'शान्ति यानी शान्ति ही' ऐसी, अन्यथा निरर्थक जान पड़नेवाली भाषा ऋषियों को मजबूरन इस्तेमाल करनी पड़ी है। शान्ति की व्यवस्थित व्याख्या करने के प्रयत्न में ही हिंसा होने लगती है। कोमल पुष्पों की माला गूंथने के प्रयत्न में जैसे वे पुष्प कुम्हला जाते हैं, शान्ति की वैसी ही स्थिति होने के कारण उसे व्याख्या की धींगा-धींगी बरदाश्त नहीं होती। ऐसी स्थिति में शान्ति की व्याख्या न करना ही उसकी उत्तम व्याख्या है। अतः 'शान्ति यानी शान्ति' कहकर ऋषियों का मौन रह जाना ही इष्ट था। लेकिन शान्ति की अशान्त व्याख्या करनेवाला पक्ष समाज में लोकप्रिय होने के कारण, हम रास्ता न भूल जायं, इसलिए उस रूढ़ व्याख्या का निषेध करने के लिए ऋषियों ने जो 'ही' की उदारता दिखलाई है वह हमारा सौभाग्य ही है।

इस पक्ष की राय में "अनासक्ति और शान्ति के बीच फर्क न समझने के कारण शान्ति का भ्रामक तत्त्वज्ञान उत्पन्न हुआ है। अनासक्ति के दर्शन पर शान्ति की अमरबेल छा गई है। सच्ची शान्ति निर्भय होनी चाहिए। निर्भय-वृत्ति या अनासक्ति ही धर्म का रहस्य है, कर्म के कुरुक्षेत्र में से भाग निकलनेवाली शान्ति नहीं। 'सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽयं लोक-व्यवहारः'—सत्य और अनृत के मिश्रण से लोक-व्यवहार चल रहा है—यह अनुभव-सिद्ध सत्य है। इसलिए मैं सत्य के ही मार्ग से जाऊंगा, शान्तिमय साधनों का ही उपयोग करूंगा, इस तरह का आग्रह-भरा लक्ष्य ग्रहण करनेवाले का आग्रह ही शेष रहनेवाला है। इसके अलावा 'सत्' यानी क्या, और 'असत्' यानी क्या, या 'किं कर्म किमकर्म' ये प्रश्न नीति-शास्त्र निश्चित रूप में हल नहीं कर सकता। इसलिए बाह्य पाप-पुण्य के झगड़े में न पड़कर, प्रसंगानुरूप जो भी पाप-पुण्य हों, या जान-बूझकर करने पड़ें, उनमें भी वृत्ति को अलिप्त रखना ही शान्ति की सच्ची या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तात्त्विक व्याख्या है। सब्जी के समान मनुष्यों को चीरना-काटना आना चाहिए, और प्याज काटते समय आंखों में आने-वाले भौतिक या शारीरिक आंसू भी मनुष्यों को काटते समय न आने चाहिए। इस तरह कर्म करने की खूबी अथवा कुशलता को 'योग' कहते हैं और योग यानी अलिप्त-वृत्ति या अनासक्ति उसका आश्रय लेकर सारे कर्म—चाहे वे बाह्य दृष्टि से शान्तिमय हों या अशान्तिमय हों—कर सकना चाहिए।

'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर् यस्य न लिप्यते।
हत्वाऽपि स इमांल् लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥'

"जिसकी बुद्धि निरहंकार और निर्लेप होगी, वह यदि इन सब लोगों का वध करे, फिर भी उसने दरअसल वध किया ही नहीं और इसलिए उसे उसका कुछ भी (पाप) नहीं लगता"—गीता के इस वचन में शान्ति का परम-रहस्य प्रतिपादित किया गया है और कौषीतकी उपनिषद् में भी इन्द्र ने प्रतर्दन से स्पष्ट कहा है कि जो मुझे पहचानता है उसकी किसी भी तरह के कर्म से हानि नहीं होती। वह चाहे मां को मारे, बाप को मारे, उसके हाथ से चोरी हो, भ्रूण-हत्या हो, उसे पाप ही नहीं लगता—'नास्य पापम्'। इस प्रकार से शान्ति का अर्थ 'अशान्ति को पचाने की शक्ति' या 'निर्भय-वृत्ति' ही किया जाना चाहिए।" इस पक्ष की दलील संक्षेप में यों कही जा सकती है।

३

व्यावहारिकों का व्यवहार जैसे सत्यानृत के मिश्रण से चलता है, वैसे ही इस पक्ष में भी शान्ति और अशान्ति का मोहक मिश्रण हो गया है। इसमें मुख्य दोष विशेषतः तत्त्व की अपेक्षा विनियोग का है; शास्त्रीय तत्त्वों के अशास्त्रीय विनियोग का है। शास्त्रीय तत्त्वों का अशास्त्रीय विनियोग अ-युक्त है। शान्ति को निर्भय होना ही चाहिए, यह कथन उपनिषदों को भी मान्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिए याज्ञवल्क्य ने जनक के सामने आत्मा के 'अकुतोभय' स्वरूप का वर्णन करके 'तुम अब निर्भय हो गये'—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि'—यों आत्म-ज्ञान का पर्यवसान बतलाया है (बृ. ४–२–४)। और गीता में भी दैवी सम्पत्ति में पहला स्थान अभय को यानी निर्भयवृत्ति को दिया है। लेकिन इस निर्भयता का साधन और फल भी अविरोधात्मक शान्तिवृत्ति ही है, इसे ध्यान में रखें तो 'शान्ति निर्भय होनी चाहिए' वाक्य की अपेक्षा 'शन्ति निर्भय होती है' वाक्य अधिक अन्वर्थक होगा। शान्ति में स्वभावतः समाई हुई 'स्वरस-वाही' निर्भयता कल्पना के बल पर अलग करना, और फिर शेष बची हुई नीरस शान्ति से निर्भयता को श्रेष्ठ सिद्ध करना तर्क-शास्त्र के अनुसार सही नहीं है। यह तरीका वैसा ही है जैसे अग्नि में समवाय-सम्बन्ध से रहनेवाली उष्णता को पहले अलग करना, और फिर अग्नि का (यानी कोयले का) तिरस्कार कर उष्णता का पुरस्कार करना। शान्ति और निर्भयता का अन्योन्य-सम्बन्ध समझकर अथर्ववेद में पहले शान्ति का आवाहन कर (अथर्व. १९–९, १०, ११.) फिर निम्न शब्दों में भय का विसर्जन किया है :

> अभयं नः करत्यन्तरिक्षम् ।
> अभयं द्यावा-पृथिवी उभे इमे ।
> अभयं पश्चाद् अभयं पुरस्तात् ।
> उत्तराद् अधराद् अभयं नो अस्तु ॥
> अभयं मित्राद् अभयं अमित्रात् ।
> अभयं ज्ञाताद् अभयं पुरो यः ।
> अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः ।
> सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥
>
> (अथर्ववेद १९-१५-४, ५)

"पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक (यानी शान्तिमय ॐकार की तीनों मात्राएं) हमें निर्भय करें। परमार्थ के प्रवास में हम आगे बढ़ें, (या प्रसंग-विशेष में) पीछे रहें, ऊपर चढ़ें और ('चढ़ेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सो गिरगा' इस न्याय से कभी) नीचे गिरें, फिर भी हमारी निर्भय-वृत्ति न ढले। (परिचित) मित्र से, और (अपरिचित) अमित्र से हमें अभय मिले। बीती हुई बातों का ज्ञान अथवा भूल से होनेवाली बातों का अज्ञान, हमें भयभीत न करे। (निवृत्ति की) रात और (प्रवृत्ति का) दिन हमें भयानक न लगे। सबकी सामुदायिक इच्छाशक्ति हमारी सहायता करे।" यह प्रार्थना उचित है। लेकिन यदि हमारी इच्छाशक्ति समुदाय पर प्रेम करती होगी, तभी हम सामुदायिक इच्छाशक्ति से प्रेम की अपेक्षा कर सकते हैं। इसलिए 'सर्वा आशा, मम मित्रं भवन्तु' यह अन्वय दूसरों पर लागू करने से पहले 'सर्वा आशा मम, मित्रं भवन्तु' ऐसा अन्वय स्वयं पर लागू करना चाहिए। इसलिए यजुर्वेद में 'मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्'— सब भूत मेरी ओर मित्र-दृष्टि से देखें—ऐसा दावा करनेवाली प्रार्थना करके, ऋषि ने तुरन्त 'मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे'—मैं सब भूतों की ओर मित्र-दृष्टि ये देखूं— ऐसी कर्त्तव्यभरी उत्तरदायित्वपूर्ण प्रार्थना की है। और बाइबिल के 'दुर्गोपनिषद्' (सरमन् आन् दि माउन्ट) में "हे परमेश्वर! जिस प्रकार मैं दूसरों को क्षमा करता हूं, उसी प्रकार तू मुझे क्षमा कर" आदर्श प्रार्थना का ऐसा नमूना दिया है। 'नायं हन्ति न हन्यते'—आत्मा न मारता है न मारा जाता है—वचन में हेतु-हेतुमद्भाव पहले से मान लिया गया है। आत्मा मारता नहीं और इसलिए मारा नहीं जाता—इतना ही इसका अर्थ है। गार्गी वाचक्नवी के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने ॐकार की अविरोधवृत्ति का वर्णन "ॐकार के शासन में, एक ही श्वेत पर्वत में से निकली हुई नदियों में, अपनी-अपनी स्वतन्त्र इच्छा के अनुसार कोई पूर्व दिशा की ओर, तो कोई पश्चिम दिशा की ओर बहती है", कर "यह ॐकार रूप अविनाशी अ-क्षर किसीका भी विनाश नहीं करता", और न कोई इसका विनाश करता है—'न तद् अश्नाति किंचन। न तद् अश्नाति कश्चन'—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार ॐकार का दुहरा अ-क्षरत्व या शान्तिमयत्व दिखाया है (बृ. ३—८—९)। उसमें भी तद् या 'इसलिए' मानकर चलते हैं। 'मेरा भय' का अर्थ 'मुझे जो दूसरों का भय लगता है' वह मानें तो 'मेरा' कर्मणि षष्ठी होता है, और 'मैं जो दूसरों को भय देता हूं' वह अर्थ करें तो वह 'कर्तरि-षष्ठी' होगा। मेरे पास भय-कर्तृत्व होता है, इसलिए मुझे भय-कर्मत्व सहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में, जैसे मनु ने कहा है, "अपने निर्भय होंने का एक ही साधन है और वह है अविरोधात्मक शान्ति से दूसरों को अभय देना (मनु. ६-४०) इसके अलावा शान्ति जैसे निर्भयता का साधन है वैसे ही निर्भयता का फल भी है, क्योंकि जो समाज को भय नहीं देता और इसलिए समाज का भी जिसे भय नहीं लगता (गी. १२-१९) उस महापुरुष के जीवन में अशान्ति की तरंगें भला क्यों उत्पन्न होने लगीं ?

इस शान्ति को स्वाभाविक ही कर्म से डरने का कोई भी कारण नहीं है। यही नहीं, बल्कि 'कृत्स्न-कर्म-कृत्' या अखण्ड कर्म करनेवाला (गी. ४—१८) विश्व-कर्मा महान् आत्मा ही नैष्ठिक शान्ति प्राप्त कर सकता है। 'फल-त्याग की युक्ति' उसे सधी हुई है (गी० ५—१२)। गीता के समान उपनिषदों का भी यही स्पष्ट मत है, यह पहले ही बताया जा चुका है। यह विश्वकर्मा (ऋग्वेद १०—८१—८२) ऋग्वेद के दो स्वतन्त्र सूक्तों का विषय रह चुका है, और ब्रह्म-विषयक परम-रमणीय सूक्तों में ऋषियों के अत्युच्च विचार स्पष्ट भाषा में प्रकट हुए हैं। यजुर्वेद के सत्रहवें अध्याय में ये दोनों सूक्त ज्यों-के-त्यों आ गये हैं। उनपर विस्तृत विचार तो किसी स्वतन्त्र लेख में ही किया जा सकता है, इसलिए यहां बानगी के तौर पर उनमें का एक मन्त्र देखने जैसा है। यह मन्त्र यजुर्वेद में दो बार आया है और वह कर्मयोग, शान्ति और ॐकारोपासना के 'स्नेह-सम्बन्ध' समझने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है :

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाचस्पतिं विश्व-कर्माणमूतये ।
मनोजुवं वाजे अद्या हुवेम ।
स नो विश्वानि हवनानि जोषत् ।
विश्व-शंभूरवसे साधु-कर्मा ॥

"हमारी साधना का वेग से (वाजे) विकास (ऊतये) हो, इसलिए हम मनोवेग-सम्पन्न विश्व-कर्म-योगी वाचस्पति की प्रार्थना कर रहे हैं। जगद्रक्षण के लिए (अवसे) इसका अवतार हुआ है, इसलिए सभीकी पुकार का (हवनानि) प्रत्युत्तर देना इसका कर्त्तव्य है। यह सर्व-शान्ति का सागर (शं-भू) और सत्कर्मों का आगर है"—इसमें वाचस्पति (यानी बृहस्पति) और 'शं-भू' इन शब्दों को देखते हुए ॐकार का अनुसन्धान स्पष्ट है। शान्ति के समुद्र पर सत्कर्म की सौम्य लहरें सदैव बहती रहती हैं, यह वैदिक ऋषियों का अनुभव है, इसलिए उन्होंने 'शान्त आत्मा' (शं-भू) को विश्वकर्मा का ही प्रकट रूप माना है, और सभी उपनिषदों का यही अभिप्राय है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समा:'—कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए—ऐसा स्पष्ट विधान ईशावास्योपनिषद् में है और 'कर्मेति प्रतिष्ठा'—कर्म उपासना की प्रतिष्ठा (या नींव) है—यह केन में कहा गया है। कठोपनिषद् में मृत्यु ने नचिकेता को 'त्रिकर्मकृत् तरति जन्म-मृत्यु'—(दम-दान-दयात्मक) त्रिविध कर्म करनेवाला जन्म-मृत्यु को पार कर जाता है—ऐसा आश्वासन दिया है। मुण्डक शब्द का अर्थ संन्यासी होता है, इसलिए मुण्डकोपनिषद् संन्यास का उपनिषद् समझा जाता है और उसमें संन्यास-योग का प्रत्यक्ष उल्लेख भी है। लेकिन संन्यास-योग के बारे में ऋषियों की हम-जैसी विपरीत कल्पना न होने के कारण 'क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः'—सारे वेदवेत्ताओं में कर्मयोगी श्रेष्ठ है—यही इस उपनिषद् का भी सिद्धांत है। छान्दोग्य में 'यदा वै करोति अथ निस्तिष्ठति' करके देखे बिना निष्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न नहीं होती। यों कर्म का अनुभव-सिद्ध महत्त्व बताया गया है। आशय, नैष्ठिक शान्ति होने के बाद, या प्राप्त करने के लिए भी, कर्म आवश्यक है, ऐसा ही उपनिषदों का भी अभिप्राय है, इसलिए विश्व-कर्मा ऋषि कर्म-शून्य शान्ति की कल्पना कर ही नहीं सकते।

लेकिन शान्ति को कर्म का डर न लगता हो तो अर्ध-नैतिक पक्ष को इससे संतोष नहीं होता। उनके मतानुसार शान्ति को कु-कर्म का भी यानी कु-कर्म करने का भी भय नहीं लगना चाहिए। शान्ति को यदि कुकर्म करने का डर लगे तो उसकी निर्भयता कहां रही ? यों इस पक्ष की साम्प्रदायिक दलील है। ऐसी अरसिक दलीलों का समाधान करना दरअसल कठिन तो है ही, लेकिन 'शान्ति को पाप का डर लगता है' यह कहना बिल्कुल विपर्यासात्मक है। वस्तुस्थिति यह है कि चूंकि पाप को शान्ति का डर लगता है, इसलिए वह शान्ति के सामने खड़ा ही नहीं रह सकता। पाप-कर्म करके भी वृत्ति अलिप्त रखना, यही शान्ति का रहस्य है, यह कहने में वदतो-व्याघात (कांट्राडिक्शन इन टर्म्स) है। पापाचरण से वृत्ति का शान्त रहना सम्भव नहीं, और यदि संभव हो भी तो अन्तर-विवेक का गला घोंटकर ही। इस निर्लज्ज वृत्ति में और अलिप्तता में अन्तर है। वैदिक ऋषि बृहस्पति की यानी ॐकार की स्तुति करते हुए "सुनीतिभिर्नयासि त्रायसे जनम् ॥" (ऋ. २–२३–४)—तुम लोगों को सुनीति का मार्ग दिखाकर सबकी रक्षा करते हो—कहते हैं। 'ऋजु-नीति नो नयतु' (ऋ. १–९०–१) ईश्वर हमें ऋजुनीति की ओर झुकावे, ऐसी प्रार्थना वेदों में अनेक बार मिलती है। सत्य का सीधा रास्ता छोड़कर उन्नति कर लेने की कल्पना ऋषियों को मालूम नहीं थी। इसलिए, 'अग्ने नय सुपथा राये'—हे अग्नि, हमें सुख-प्राप्ति का साधु-मार्ग बता—यह अगस्त्य ऋषि की प्रार्थना ऋग्वेद से (१–१८९–१) यजुर्वेद में, और यजुर्वेद से (यजु. ४०–१६) ईशावास्योपनिषद्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अक्षरशः उतर आई है, और 'सत्यमायतनम्' (केन) सत्य ही उपासना का घर है; 'नाविरतो दुश्चरितात्' (कठ)—दुराचरण से दूर गये बिना आत्म-प्राप्ति की आशा व्यर्थ है; 'न येषु जिह्ममनृतं न माया' (प्रश्न)—जिनमें टेढ़ापन, असत्य या कपट होगा उनके लिए ब्रह्म-लोक का द्वार बन्द है; 'सत्यमेव जयति नानृतम्' (मुण्डक) सत्य की ही विजय होगी, अनृत की नहीं; 'यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि' (तैत्तिरीय)—जो कर्म निर्दोष हों उन्हींका आचरण करना चाहिए, दूसरों का नहीं करना चाहिए । 'अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः' (छांदोग्य)—सरलता, अहिंसा, सत्य, तप, दान इस जीवित-यज्ञ की दक्षिणा ही है; 'विपापो विरजो भवति' (बृह.)—आत्मज्ञान से मनुष्य निष्पाप, निर्मल होता है,—इत्यादि वचनों के द्वारा समूचे उपनिषदों में असत्कर्मों का पारमार्थिक शान्ति से स्पष्ट विरोध दिखाया है । 'कृत्स्न' कर्म-कृत् या 'विश्व-कर्मा' शब्द का अर्थ 'सब कर्म' करनेवाला होता हो, तो भी 'सब' शब्द को व्यर्थ तानकर उसमें पाप-कर्म का भी समावेश न हो, इसलिए विश्व-कर्मा के सूक्त में ऋषियों ने साधु-कर्मा विशेषण साभिप्राय योजित किया है।

४

भगवद्-गीता में कहा गया ब्रह्मनिर्देश 'ॐ तत्सत्' भी कर्मयोग का स्वरूप समझने की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और मननीय है । यह ब्रह्म-निर्देश गीता के सत्रहवें अध्याय के उपसंहार में है । इस अध्याय में श्रद्धा के और तदनुसार यज्ञ-दान-तप इत्यादि वैदिक और आहारादि लौकिक कर्मों के सात्त्विक, राजस और तामस ऐसे तीन विभाग किये गए हैं और उनमें से राजस और तामस कर्मों का स्वरूपतः त्याग सूचित किया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। राजस और तामस कर्म कर अलिप्त रहना संभव नहीं, और यदि किसी पुश्तैनी पक्के ठग के लिए संभव हो तो भी शास्त्र-कारों का 'स्थितप्रज्ञ' वह पक्का ठग नहीं है। 'निष्काम व्यभि-चार, निर्वैर खून, निर्लोभ डकैतियां' मिल्टन के शैतान के सूत्र हो सकते हैं, देवदूतों के नहीं। इसे ऋषियों ने 'असुराणां उप-निषद्'—आसुरी तत्त्वज्ञान—नाम दिया है (छां. ८–८–५) और इस आसुरोपनिषद् का दिग्दर्शन उन्होंने 'प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेन अलंकारेणेति संस्कुर्वन्ति'—प्रेत का शरीर मानो भीख में मांगे हुए चिथड़ों को अलंकार समझकर सजाते हैं, इस एक वाक्य से ही समाप्त कर दिया है। लेकिन खूनी तत्त्वज्ञान का प्रेत अलिप्तता के आवरण के नीचे कितना ही सजाया जाय, फिर भी प्रेत तो प्रेत ही रहेगा। 'यू कॅनॉट चीट अल्जिब्रा'—बीज-गणित को धोखा नहीं दिया जा सकता—इस वाक्य का सत्य बीजगणित की अपेक्षा धर्म पर अधिक लागू होता है। धर्म की वञ्चना करने पर आत्म-वञ्चना ही पल्ले पड़नेवाली है। इस-लिए राजस-तामस कर्म कर अलिप्त रहने के 'अव्यापारेषु व्यापार' में न पड़कर, ऐसे असत् (कामप्रेरित अथवा काम्य) कर्मों के लिए 'मूलोत्पाटक' मापदण्ड स्वीकार कर उनका आमूल त्याग करना ही योग्य है (गी. १८–२)। शेष सात्त्विक कर्म (सत्) ईश्वरार्पणपूर्वक (ॐ), निष्काम अथवा अलिप्त वृत्ति से (तत्) किये जाने चाहिए। इस प्रकार से 'ॐ तत्सत्' निर्देश से भगवद्गीता ने सत्कर्मयोग के तत्त्व का प्रतिपादन किया है और तदनुसार 'सत्कर्मयोगें वय घालवावें'—सत्कर्म-योग में उम्र बितानी चाहिए—यही सन्तों की इच्छा रही है। इस ब्रह्म-निर्देश में से यह अर्थ भगवद्-गीता ने किस तरह निष्पन्न किया, इसका विवेचन पहले अध्याय के शुरू में ही किया गया है।

'लेकिन पाप करके भी अलिप्त', इस भाषा का अर्थ जैसा चित्त में समाता है, वैसा पुण्य करके भी अलिप्त भाषा का कोई विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ ही नहीं जान पड़ता। राजस-तामस कर्मों का स्वरूपतः संन्यास करने पर जो कुछ शेष रहता है वह सात्विक कर्म ही है। इसलिए अलिप्तता या निष्काम वृत्ति की भाषा ही झूठी जान पड़ती है। ऐसी स्थिति में 'तत्' यानी अलिप्त यह विशेषण सत्-कर्मों में जोड़ने से क्या मतलब है ? 'खून करके फरार' इस भाषा का अर्थ हम समझ सकते हैं। लेकिन 'दया करके फरार' का क्या अर्थ है ? यह प्रश्न व्यावहारिकों की दृष्टि से समझदारी से भरा हो पर सत्पुरुषों की चरित्र-पद्धति को वह स्पर्श नहीं करता। फ्रेंच उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो ने अपने उपन्यास 'ला मिजराब्ल' के मुख्य पात्र को चोरी से परोपकार करने का व्यसनी बनाया है। वह चोर की तरह रात को किसी गरीब के घर में प्रवेश करता है और वहां कुछ-न-कुछ पत्रम्-पुष्पम् डालकर फरार हो जाता है। इस तरह उसका दिनक्रम—अथवा रात्रिक्रम—बताया गया है और भगवान् को भी यही संकोच-वृत्ति सुहाती है। इसीलिए उन्हें अपने असली गीत छिपाकर माया की मुरली पर अवतारों का आरोह-अवरोह करने में मजा आता है। 'अमानित्व' गीता में ज्ञान का पहला लक्षण बताया है (गी. १३—७) इसलिए दुष्कृत्यों को जैसे अपमान से डरना चाहिए, वैसे ही सुकृत्यों को भी सम्मान का डर लगना चाहिए। गेहूं की रोटी बनाने के पहले कंकर बीनने की सूप में की क्रिया, फिर पीसकर आटा बनाने की चक्की में की क्रिया और तीसरी रोटी सेंकने की चूल्हे में की क्रिया, यों मुख्य तीन क्रियाएं करनी पड़ती हैं। वैसे ही 'सत्'-कार के द्वारा असत्-कर्मों के कंकर चुनने के बाद, शेष बचे हुए सत्कर्मों के ठोस गेहूं, तत्-कार की चक्की में पीसने का काम करना पड़ता है और उसके बाद ईश्वरार्पण-बुद्धि के चूल्हे पर रोटी सेंकने की अन्तिम क्रिया ॐकार के द्वारा होती है। सात्विक (सत्) कर्म में भी अहंकार की ऐंठ बची रहती है। इस ऐंठ को निकालने के लिए अलिप्तता की जरूरत रहती है। अलिप्त-वृत्ति के द्वारा अहंकार पछोरने के बाद उस निरहंकार स्थिति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'गुणातीत' या 'निस्त्रैगुण्य' अवस्था कहते हैं (गी. २–४५, १४–२५)। इसलिए कोई इस अवस्था का अर्थ सारे कर्मों का स्वरूपतः नाश यानी सर्व-कर्म-संन्यास करते हैं, तो कोई सारे कर्म अलिप्तता-पूर्वक करने की तरकीब यानी सर्व-कर्म-योग करते हैं। दोनों कल्पनाएं अतिशयोक्ति से भरी हैं। सात्त्विक कर्मों का स्वरूपतः नाश और राजस-तामस कर्मों को अलिप्तता-पूर्वक करने की युक्ति दोनों अभावात्मक हैं। वस्तुतः गुणातीत-अवस्था चौथी अवस्था मानी गई है। इसलिए उसका सत्त्वगुण से कुछ-न-कुछ भिन्न अर्थ निकालने की जिम्मेदारी समझकर, ऊपर की अनुमानात्मक कल्पनाएं की गई हैं। यह चौथी अवस्था है ही नहीं। आवश्यक हो तो इसे साढ़े तीसरी अवस्था कहा जा सकता है। विश्व की व्यामिश्र (काम्प्लेक्स) या व्याकृत रचना होने के कारण जिसे हम सत्त्वगुण कहते हैं वह शुद्ध सत्त्वगुण नहीं होता, उसमें राजस-तामस गुणों के भी कुछ-कुछ कण मिले रहते हैं (गी. १४–१०)। इसलिए सत्त्वगुण में अहंकार का दोष रहता है। इसलिए शुद्ध सत्त्व-गुण (गी. १६–१) की स्वतन्त्र भूमिका मानकर उसे 'गुणातीतावस्था' नाम दिया है। इस शुद्ध अवस्था में रज अथवा तम का अंश नहीं रहता, इसलिए यहां तक पहुंच जाने के बाद फिर पतन होने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए इसे नित्य-सत्त्व भी कहते हैं (गी. २–४५)। जिन मिश्र-गुणों को हम गुण कहते हैं, यह शुद्ध अवस्था उनके बाद की है, इसलिए इसे साढ़े तीसरी अवस्था मानने में हर्ज नहीं है। इस शुद्ध सत्त्व गुणी अवस्था को निर्गुण भी कहते हैं। लेकिन 'निर्गुण' शब्द में के 'गुण' का अर्थ हमारा परिचित मिश्र गुण ही समझना चाहिए। इस गुणातीत अवस्था की व्याख्या भूमिति में बिन्दु की व्याख्या के समान व्यवहार के फलक पर अंकित होनेवाली नहीं है। इसलिए व्यवहार की अन्तिम भूमिका मिश्र सत्त्वगुण की ही है। और इस अवस्था में राजस-तामस गुणों का अल्पांश, भले हमें न दिखता हो, फिर भी शेष रहता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। उस कारण हम (अपने ज्ञान के अनुसार) कितना ही निर्दोष आचरण करते हों फिर भी उसमें थोड़ा-सा पाप का अंश रह जाना अपरिहार्य होता है (गी. १८-४८)। इसलिए परम ज्ञानवान् निष्पाप ऋषियों ने भी 'हमारे सुचरित का अनुकरण करो, दुश्चरित का मत करो' ऐसा स्पष्ट इशारा दे रखा है। लेकिन यह पाप बुद्धि-पूर्वक न किया गया हो, फिर भी चूंकि उसका कारण कानून का अज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए ऋषि अज्ञान में हो गये, इस पाप के लिए 'यदहं पापमकार्षम्'—मैंने (अज्ञानपूर्वक) जो पाप किये हों, उनके लिए भक्तवत्सल परमेश्वर क्षमा करें, यों उत्तरदायित्वपूर्ण भाषा में प्रार्थना करते हैं। लेकिन पाप हुआ हो या किया गया हो, चूंकि क्षमा नहीं किया जा सकता, इसलिए अन्त में वे सभी कृत्य ईश्वरार्पण करते हैं। इस ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम सत्कर्म करने की युक्ति को योग कहते हैं। अज्ञान-पूर्वक होनेवाले सूक्ष्म पाप को निकालने के लिए ज्ञानपूर्वक यावज्जीवन किये हुए पुण्यों को ईश्वरार्पण करने में जो त्याग-वृत्ति है वह योग का रहस्य है और अनुभव बतलाता है कि उस त्याग की युक्ति से सहज ही शान्ति प्राप्त होती है (गी. १२-१०)। स्पष्ट ही निष्काम बुद्धि से ईश्वरार्पण किये जानेवाले कर्म सत्-कर्म ही होने चाहिए। दान करना है, इसलिए घर के कूड़े-करकट का दान नहीं किया जाता। किसी स्वच्छ वस्तु का दान करने को ही दान कहते हैं। और जब शुद्ध और अ-पापविद्ध (ईश. ८) परमेश्वर को कोई चीज अर्पित की जा रही हो तब वह परम पवित्र होनी चाहिए, यह स्पष्ट है। भगवान भाव का भूखा है। इसलिए भक्तिपूर्वक 'जो कुछ भी' अर्पण किया जाय, वह उसे प्रिय होता है, इस तत्त्व में गलती नहीं है। 'जो कुछ भी' का अर्थ 'कितना ही थोड़ा' समझा जाय, 'कितना ही अपवित्र' नहीं। 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्'—ये पूजा की चीजें पवित्र हैं, इसलिए चुनी गई हैं। फूल नहीं तो फूल की पंखुड़ी से काम चलेगा, लेकिन वह होनी चाहिए फूल की पंखुड़ी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः जहां ईश्वरार्पण बुद्धि या भक्ति होगी, वहां यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि भक्तिपूर्वक अपवित्र वस्तु अर्पण मत करो, क्योंकि मानसशास्त्र की दृष्टि से भक्ति से अपवित्र वस्तु का चुनाव ही नहीं हो सकता। फिर भी पवित्रता पर जोर देने के लिए भगवान ने, 'तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः'– 'पवित्र पुरुष के द्वारा दी गई भक्ति की भेंट मैं प्रेमपूर्वक स्वीकार करता हूं'—ऐसी पुनरुक्ति की है। जिस प्रकार पवित्रता का महत्त्व दिखलाने के लिए 'भक्तिपूर्वक अर्पित की जाने पर भी अपवित्र वस्तु भगवान को नहीं चढ़ाई जा सकती' यह निरर्थक भाषा बरती जाती है, वैसे ही भक्ति का महत्त्व बढ़ाने के लिए 'अपवित्र वस्तु भी यदि भक्तिपूर्वक अर्पण की जाय तो वह भगवान को मान्य होती है' ऐसी अनर्थक भाषा बरतते हैं। इन दोनों भाषाओं में से यदि अर्थवाद का अंश छोड़ दिया जाय तो एक ही तत्त्व ग्रथित होता है कि भक्ति और पवित्रता दोनों की जोड़ी टूट नहीं सकती। 'ॐ = तत् = सत्' यह वास्तविक स्थिति है। फिर भी 'ॐ+तत्+सत्' लिखना पड़ता है, और व्यवहार की दृष्टि से यह ठीक भी है, क्योंकि तात्त्विक समीकरण है (शुद्ध) सत् (यानी सत्-कर्म) = तत् (यानी निष्काम-कर्म) = ॐ (यानी ईश्वरार्पणपूर्वक कर्म) इसलिए 'सत्-कर्म करो,' इतने में ही 'ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम सत्कर्म करो' यह सारा अर्थ आ जाता है। फिर भी, शुद्ध सत् का अस्तित्व व्याख्या में ही रह जाता है, इसलिए व्यवहार के मिश्र-सत् के सम्बन्ध में बोलते समय यद्यपि 'ईश्वरार्पण-पूर्वक निष्काम', अथवा 'ॐ तत्' विशेषण जोड़ने पड़ते हैं, तथापि 'मिश्र'-सत् यानी जिसमें हेतु-पूर्वक अथवा जानबूझकर असत् की मिलावट की गई हो ऐसा 'सत्' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि ऐसा कृत्रिम मिश्र सत्कर्म निष्काम अथवा ईश्वरार्पण हो ही नहीं सकता, बल्कि मिश्र-सत् का अर्थ है जिस सत्-कर्म में यथासंभव सावधानी रखने के बाद भी, मनुष्य–सुलभ अज्ञान के कारण, अथवा विश्व की व्यामिश्र रचना के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण, यदि 'असत्' का अंश रह गया हो तो वह सहज-मिश्र-सत् है। इस सहज-मिश्र-सत् को ॐ-तत् का सहारा दिया जाता है। उदाहरणार्थ, अतिथि को दिये जानेवाले परम शुद्ध अन्न में भी पोषण के साथ ही सहज विष भी मिला रहता है। चाय या शराब में स्पष्ट विष होता है, वैसा चावल में न हो, फिर भी चावल में पोषण के साथ किंचित् गुप्त विष रहता ही है। इसके अलावा मैंने अपनी ओर से स्वच्छता का कितना ही प्रयत्न किया हो, फिर भी अज्ञानकृत प्रमाद के कारण अस्वच्छता का कुछ-न-कुछ विष भी बाहर से उन चावलों में घुसा रहता है। इसलिए (मेरी कल्पना के अनुसार निर्विष ही नहीं, बल्कि पोषक) चावलों का भात अतिथि को देकर मैंने उसपर एक तरह से मानो विष-प्रयोग ही किया है। इस तरह के अनेक विष-प्रयोग होने के बाद मनुष्य कालान्तर में मर जाता है। इसलिए उसकी मृत्यु में मैं हिस्सेदार हूं, यह भी स्वीकार करना होगा। इस सहज खून का पाप, यदि मैं अन्नदान का कृत्य ईश्वरार्पण बुद्धि से यानी निरहंकार वृत्ति से और फलाशा छोड़कर करूं, तो मुझे माफी मिल जायगी या पाप नहीं लगेगा। सभी कर्म सदोष हों, फिर भी कर्म का सम्पूर्ण त्याग न तो संभव है, न आवश्यक न इष्ट भी, इसलिए कृत्रिम-दोषयुक्त कर्म (यानी असत् कर्म) छोड़कर शेष सहज-दोषयुक्त कर्म (यानी व्यवहार की दृष्टि से सत्-कर्म और व्याख्या की दृष्टि से मिश्र-सत्-कर्म) निरहंकार वृत्ति से करने चाहिए, ऐसा शास्त्र का तत्त्व है। लेकिन हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि निरहंकार वृत्ति के द्वारा ऊपर कहा जा चुका है वैसा सहज-विष-प्रयोग पचाया जा सकता है; पर कृत्रिम-विष-प्रयोग नहीं पचाया जा सकेगा। 'यस्य नाहंकृतो भावो...न हन्ति न निबध्यते'—गीता के इस वचन का अर्थ इतना ही समझना चाहिए कि निरहंकार वृत्ति को सहज हिंसा का पाप नहीं लगता, लेकिन इसके आगे बढ़कर यदि यह अर्थ निकाला जाय कि निरहंकारवृत्ति कृत्रिम हिंसा के पाप को भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धो डालती है तो कहना होगा कि निरहंकार वृत्ति और गीतार्थ का रहस्य समझ में नहीं आया। वस्तुत: उपर्युक्त वाक्य निरहंकार वृत्ति का महत्त्व दिखलाने के लिए हैं। कृत्रिम या सहज हिंसा की भी उचितानुचितता निश्चित करने के लिए नहीं। ऐसी स्थिति में हिंसा के समर्थन के लिए उसका उपयोग करना युक्त नहीं है।

५

वैसे ही कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् में आख्यायिका की प्रवृत्ति आत्मज्ञान के महत्त्व को गौरवान्वित करके बतलाने के लिए है, इसलिए उसका उपयोग भी मां-बाप के सब्जी बनाने में नहीं हो सकता है। प्रतर्दन इन्द्र-लोक में गया, तो वहां इन्द्र ने उसे वरदान मांगने को कहा। लेकिन प्रतर्दन ने इसपर उत्तर दिया, "तेरी दृष्टि से जो वर मनुष्य के लिए 'हित-तम' जान पड़े, वही तू मुझे दे।" इसपर इन्द्र ने कहा, "वह वर जान पड़ता है 'स्वयंवर' होना चाहिए।" तो प्रतर्दन ने कह दिया—"मुझे अभी वर ही नहीं चाहिए।" कुछ भी हो, फिर भी 'सत्यं हि इन्द्र:'—सत्य ही इन्द्र का स्वरूप है इस कारण—उसे अपना वाक्य तो सत्य करना ही था। तब "तू मुझे ही पहचान, क्योंकि मेरी दृष्टि से मुझे पहचानना ही मनुष्य के लिए हित-तम होगा", यह कहकर इन्द्र ने उसके समर्थन में, "मैंने त्वाष्ट्रादियों का वध किया, लेकिन उससे मेरा एक बाल भी बांका नहीं हुआ", ऐसी आत्ममहिमा गाई है। और आखिर में "जो मुझे पहचानता है उसके हाथ से मातृ-वधादि घोर कर्म हुए हों फिर भी उसे पाप नहीं (लगता)—नास्य पापम्" ऐसी 'रोचनार्था फल-श्रुति' बतलाई है। इस आख्यायिका का प्रयोजन त्वाष्ट्रवधादि इन्द्र-कर्मों की प्रशंसा करना नहीं, बल्कि विज्ञान-स्तुति है, यह बात 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' इस सूत्र पर किये गए भाष्य में आचार्यों ने स्पष्ट कर दी है (ब्र. सू. भा. १-१-३०) इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र का भावार्थ यह है कि 'इन्द्र की भाषा वामदेव की भाषा के अनुसार शास्त्रीय है, व्यावहारिक नहीं।' वामदेव वैदिक ऋषि हैं। ऋग्वेद के दस मण्डलों में से चौथा समूचा मण्डल इन ऋषि को सौंप दिया गया है। विश्वात्मभावना के दृष्टान्त के रूप में उपनिषदों में इनके वचन नाम-निर्देश-पूर्वक उद्धृत किये गए हैं (ऐ. ४–५ ; बृ. १–४–१०)। 'य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति'—जिसे 'मैं ब्रह्म हूं' यह ज्ञान हो जाता है, वह सर्व-रूप बनता है। इस तत्त्व को सिद्ध करने के लिए वामदेव का उदाहरण देते हैं। वामदेव का विश्वात्म-भाव-प्रतिपादक सूक्त चौथे मण्डल का छब्बीसवां सूक्त है। इस सूक्त का प्रारंभ 'अहं मनुरभवं सूर्यश्च'—मैं ही मनु हुआ था, मैं ही सूर्य हुआ था—इस चरण से होता है और यही चरण बृहदारण्यकोपनिषद् में आधार के रूप में लिया गया है और इसीका उल्लेख सूत्रकारों ने किया है। इसपर से वेदोपनिषदों की अविच्छिन्न परंपरा दृष्टि में आ जाती है। ब्रह्म-ज्ञान के द्वारा रूप अद्वैत के दर्शन होते ही मैं ही चींटी से लेकर ब्रह्मदेव तक विविध रूप धारणकर, विश्व-व्यापक बना हुआ हूं, ऐसा अनुभव होता है, यह बात हमें वामदेव के श्रोत उदाहरण पर से ही नहीं, बल्कि आगे 'मैंने सूर्य को उपदेश दिया' (गी. ४–१) या 'सप्तर्षि मनु वगैरह सब मेरे ही भाव हैं' (गी. १०–७) इत्यादि भगवद्-वचन और अर्वाचीन काल में 'तुका आकाशा एवढा'—तुकाराम आकाश के बराबर है—जैसी अभंगवाणी से भी दिखाई देती है, बल्कि जितने अंश में अद्वैत-भावना जागृत होगी, उतने अंश में इस विश्व-रूपत्व का अनुभव किसीको भी हो सकता है। इस विश्व-रूप महान आत्मा को दुनिया भर में सज्जनों की ओर से होनेवाले सत्कर्म और दुष्टों की ओर से किये जानेवाले असत्कर्म, सब 'मेरे ही हैं' ऐसा जान पड़ना स्वाभाविक है। इसी अर्थ में 'बहूनि मे अकृता कर्त्वामि'—मैंने बहुत-से अकरणीय कर्म किये हैं (ऋग्वेद ४–१८२), यों वैदिक ऋषियों के, या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मीपण अहंकारें अंगीं भरला ताठा, विषय-कर्दमांत लाज नाहीं लोळतां'—'मैं अपनेपन के अहंकार से अकड़ता जाता हूं। मुझे विषय-रूपी कीचड़ में लोटते हुए शर्म नहीं आती'—ऐसे लौकिक संतों के उद्‌गार निकलते हैं। सारी दुनिया का कोई भी चोर चोरी करे तो—शास्त्रीय भाषा में—इस महात्मा के द्वारा की गई चोरी ही वह मानी जायगी, किसी खूनी मनुष्य के किये गए खून, शास्त्रीय भाषा में, इस महात्मा के द्वारा किये गए खून ही होंगे। लेकिन ऐसे कितने ही खून, या कितनी ही चोरियां इस महात्मा के हाथ से होती हों फिर भी उनसे इसका एक बाल भी बांका नहीं होता,' यह भी उसी ज्ञान की महिमा है कि जिससे सारे संसार के पाप इस महापुरुष के सिर मढ़े गये थे। इसलिए स्थित-प्रज्ञ की इस शास्त्रीय भाषा को व्यावहारिक भाषा समझना उचित नहीं होगा। इन्द्र की भाषा वामदेव की भाषा के समान विश्वात्म-भाव-प्रेरित अथवा शास्त्रीय है, इसलिए 'शास्त्र-दृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' सूत्र कहता है कि उसका व्यावहारिक अर्थ मत निकालो। इसलिए परमज्ञानी पुरुष का वर्णन करते हुए उपनिषद् में 'यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकाम-हतः' (१) श्रोत्रिय यानी वेदवेत्ता, (२) अ-वृजिन यानी निष्पाप, और (३) अ-काम-हत यानी निष्काम, ये तीन विशेषण उपयोग में लाये गए हैं। 'सर्वे-वेदा यत्पदमामनन्ति' इस श्रुति वचन के कथन के ही अनुसार सारे वेदों का निष्कर्ष ॐकार में व्यक्त होता है, इसलिए श्रोत्रियत्व का संग्रह ॐकार में हो सकता है। इसी प्रकार अ-वृजिनत्व और अ-कामहतत्व क्रमशः 'सत्'-कार और 'तत्'-कार के अर्थ हैं। इसलिए गीता के त्रिविध ब्रह्म-निर्देश में जो सत्कर्म-योग का उपदेश दिया गया है, वही उप-निषद उपर्युक्त तीन विशेषणों में ग्रथित हो गया है, इसमें संदेह नहीं। ॐकारोपासना का यदि कर्म-योग की दृष्टि से रूपान्तर किया जाय तो अ = श्रोत्रियत्व, उ = अ-कामहतत्व, और म् = आ-वृजिनत्व यों सीधे अर्थ निष्पन्न होते हैं। शन्ति का त्रिकोण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीन सुरेखाओं से बना हुआ है, इस कारण यदि उसकी एक भी सुरेखा अलग की जाय तो उससे शान्ति नष्ट होती है। इसलिए निष्काम अनीति की कल्पना की ही संभावना नहीं होती।

६

"लेकिन 'सत्' क्या है और 'असत्' क्या है, इस सम्बन्ध में नीति-शास्त्र ही चुप्पी साधकर बैठा है और सत्यानृत का ऐसा मिश्रण करना कि जो अलग-अलग पहचाना न जा सके, यही तो व्यवहार की मुख्य कला है। और चूंकि उसके विना लोक-यात्रा नहीं चल सकती, इसलिए 'सत्यानृतं तु वाणिज्यम्' कहकर एक प्रकार से व्यवहार-दृष्टि से असत्य को मानों सम्मान प्रदान कर दिया है।" यह अर्ध-नैतिक स्वार्थ-पंडितों की तरकस का अन्तिम बाण है। उनकी अपेक्षा रहतीं है कि यह बाण कारगर होगा ही। लेकिन प्रायः जहां नीति-शास्त्र की गति समाप्त होती है, वहीं से उपनिषदों का सिर्फ आरंभ ही होता है। इसलिए नीति-शास्त्र का यद्यपि निर्णायक स्वरूप न हो, फिर भी उपनिषदों की उच्च भूमिका पर 'छिद्यन्ते सर्व-संशयाः'—सारे संशयों का नाश हो जाने के कारण—उपनिषदों को नीतिशास्त्र की उलझन का स्पर्श तक नहीं हो सकता। व्यवहार सफल होने के लिए 'नपा-तुला' सत्य, 'व्यावहारिक' सत्य, 'लाभदायक' सत्य, 'जेबी' सत्य, 'गप्प से भरा' सत्य, 'मीठा' या 'रुचनेवाला' सत्य आदि सत्य उपयोगी न होकर "मना सत्य तें सत्य वाचें वदावें"—मन में जो सत्य हो उसे ही वाचा से कहना चाहिए—इस सन्त-वचन का सीदा-सादा सत्य ही विजयी होगा। यही उपनिषत्कारों का दृढ़ सिद्धांत है। और इसे उन्होंने एक आख्यायिका के रूप में स्पष्ट किया है। यह आख्यायिका नीति-शास्त्र की दृष्टि से भी मननीय है और उसपर से ऋषियों की चार वर्णों के बारे में जो कल्पना थी वह भी समझ में आती है। "प्रारंभ में केवल (ब्राह्मण-रूप) ब्रह्म ही अकेला था, लेकिन उतने से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवहार अच्छी तरह नहीं चला। इसलिए उस (ब्राह्मण-रूप) ब्रह्म ने श्रेयो-रूप क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति की। जैसे अग्नि देवताओं में ब्राह्मण है, वैसे ही इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान, ये 'राज' शब्द धारण करनेवाले देवताओं में क्षत्रिय हैं। इस प्रकार से ब्राह्मणों ने अपना यश क्षत्रियों में स्थापित किया। इसलिए क्षत्रियों से बढ़कर कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। इसलिए राजसूय-यज्ञ जैसे प्रसंग पर क्षत्रिय को उच्चासन पर बैठाकर (सबके सामने उदाहरण पेश करने के लिए) ब्राह्मण स्वतः नीचे बैठते हैं। लेकिन राजा कितना ही श्रेष्ठ हो, फिर भी क्षत्रियों के लिए ब्राह्मण मां जैसे हैं, इसलिए अन्त में उसे ब्राह्मण के पांव ही पकड़ने पड़ते हैं। और जो राजा मां की जगह पर बैठनेवाले ब्राह्मणों की (अपमानादि) हिंसा करता है, वह शास्त्र के अनुसार महा-पातकी होता है, (छां. ६–१०–९)। अस्तु, लेकिन जब क्षत्रियों की मदद से भी काम नहीं चला तब ब्रह्म ने वैश्य-वर्ण की उत्पत्ति की। देवताओं में जो 'गणशः' यानी संघ (गिल्ड) बनाकर रहनेवाले हैं, जैसे (आठ) वसु, (ग्यारह) रुद्र, (बारह) आदित्य, (तेरह) विश्वे-देव, या (उनचास) मरुत, वे सब वैश्य हैं। जब त्रैवर्णिक होने पर भी व्यवहार पूरा नहीं हुआ तो ब्रह्मा ने शूद्र (पोषक) वर्ण का निर्माण किया। देवताओं में शूद्र कौन ? यदि आप यह पूछें, तो वह है हम सबको अन्नरस से पोषित करनेवाली हमारी यह मातृ-भूमि (पृथिवी)। लेकिन समस्त चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति करने पर भी व्यवहार का निर्वाह नहीं हो पाया, तब ब्रह्म ने परम-श्रेयोरूप धर्म का निर्माण किया। यह क्षत्रियों में भी क्षत्रिय है। धर्म से श्रेष्ठ हो, ऐसी कोई चीज दुनिया भर में नहीं। इसलिए इस धर्मराज के बल पर दुर्बल माने जानेवाले मनुष्य भी बलवान का सामना कर सकते हैं। धर्म यानी सत्य। सत्यवादी पुरुष को धर्म-वादी कहते हैं और धर्म-वादी पुरुष को सत्यवादी कहते हैं। एक ही ब्रह्म ने ये दोनों रूप धारण किये हैं।" इस आख्यायिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ऋषियों ने बतलाया है कि धर्म ही व्यवहार का एकमेव आधार है। लेकिन चूंकि कहा गया है कि 'धर्म से व्यवहार चलता है,' इसलिए इसपर से कोई उल्टी कुलांच मारकर तय कर सकता है कि 'जिससे व्यवहार चलता है वह धर्म।' और व्यवहार किस तरह चलता है वह तो हम व्यावहारिक लोग पहले ही निश्चित कर चुके हैं। व्यवहार सत्यानृत के पहचानने में न आनेवाले मिश्रण से चलता है, इसलिए धर्म यानी सत्यानृत का पहचानने में न आनेवाला मिश्रण, ऐसी अनर्थापत्ति प्राप्त होती है। इसलिए उपनिषदों ने स्पष्ट लिख रखा है—'यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्'—धर्म यानी सत्य। लेकिन 'नीति' का अर्थ क्या है? 'स्वयं का सुख'। 'स्वयं का सुख' क्या? 'स्वयं का दूरदर्शी सुख।' 'स्वयं का दूरदर्शी सुख यानी क्या?' 'समाज-सुख।' 'समाज-सुख का क्या अर्थ है?' 'समाज का अ-विकृत सुख।' 'समाज का अविकृत सुख यानी क्या?' 'समाज-हित'। 'समाज-हित' यानी क्या? ......और बिल्कुल आखिर में, 'क्यों' यानी क्या? व्यावहारिक नीति-शास्त्र की डेढ़ अक्ल है, अन्त में डेढ़ अक्ल नीति-शास्त्री 'सत्य' का भी अर्थ पूछे बिना कैसे रह सकते हैं? इसलिए सत्य यानी धर्म और धर्म यानी सत्य कहकर सारी प्रश्न-परम्परा की परिसमाप्ति की गई। व्यवहार सत्य के द्वारा ही चलता है, जितने अंशों में सत्य में अनृत मिलता है, उतने ही अंशों में व्यवहार मरता है, यह उपनिषदों का सिद्धान्त है। और आगे कभी किसी बड़े व्यवहार में लोगों को धोखा दे सकें, इसलिए ही क्यों न हो, पहले छोटे-मोटे व्यवहारों में ईमानदारी की ख्याति या साख प्राप्त करनी पड़ती है। इस बात का अनुभव तो व्यावहारिकों को है ही। इससे स्पष्ट है कि झूठ भी सत्य के बिना नहीं चलता।

सारांश, 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'—सत्य ही सारी सृष्टि का जीवनाधार है—इसलिए सत्य क्या और असत्य क्या, इसका निर्णय करना संशयवादी नीतिशास्त्र की बहिर्मुख दृष्टि के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहे सम्भव न हो, परन्तु 'मैं सत्य के ही मार्ग से जाऊंगा, शान्तिमय साधनों का ही उपयोग करूंगा', यह सत्य-व्रत ही व्यवहार में भी यशस्वी होगा। इसी श्रद्धा से अन्तर्यामी परमात्मा को साक्षी रखकर, 'सन्मार्गे प्रज्ञा रक्षणीया'—बुद्धि को सन्मार्ग से विचलित नहीं होने देना चाहिए। हिंसक वृत्ति के द्वारा जगत को भयभीत कर स्वयं निर्भय बनना असम्भव है, इसलिए शान्ति ही निर्भयता की नींव और शिखा है। शान्ति को कर्म का डर न लगता हो, फिर भी पापकर्म शान्ति से डरकर 'दूर' भाग जाते हैं, इसलिए शान्ति को 'दूर्नामक' देवता कहा गया है। असत्-कर्मों का स्वरूपतः त्याग कर निष्काम बुद्धि-पूर्वक सत्-कर्म करना शान्ति का सच्चा स्वरूप है। लेकिन भले-बुरे सभी कर्म अलिप्त रहकर करने की युक्ति ही शान्ति है। यह शान्ति की संशोधित व्याख्या उपस्थित होने पर, इस विकृत व्याख्या की व्यावृत्ति करने के लिए 'शान्ति का अर्थ ही है शान्ति' इस प्रकार से 'ही' का प्रयोग कर ऋषियों ने शान्ति की आबाल-सुबोध व्याख्या की है।

७

यजुर्वेद के शान्ति-पाठवाले अध्याय में ॐकार और शान्ति की अद्वैतता बताकर शान्ति की जो व्याख्या की है, उस व्याख्या का कर्मयोग की दृष्टि से यहांतक ऊहापोह किया। अब आगे यजुर्वेद के अन्त की ओर बढ़ना है। शान्ति-पाठ अध्याय में शान्ति का स्पष्ट उच्चारण कर ॐकार सूचित किया गया है। इससे उलटे, इस अन्तिम अध्याय में ॐकार का स्पष्ट उच्चारण करके शान्ति सूचित की गई है। इस अन्तिम अध्याय (और शांति-पाठवाले अध्याय के भी) द्रष्टा ऋषि दधीचि (दध्यङ्-आथर्वण) माने जाते हैं। इसी अध्याय में से 'ईशावास्योपनिषद्' लिया गया है। साक्षात् संहिता में से लिया गया एकमात्र उपनिषद होने के कारण इसे महत्त्वपूर्ण माना गया है। मूल यजुर्वेद के अध्याय में और प्रसिद्ध ईशावास्योपनिषद् में किंचित् क्रम-भेद है, और यजुर्वेद के अध्याय में सत्रह मन्त्र और ईशावास्यो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पनिषद् में अठारह मन्त्र आये हैं। यजुर्वेद के इस अंतिम अध्याय में (१) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्—मनुष्य के शरीर में चेतना-युक्त (अनिल) वायु ही अमर अंश है, शेष शरीर की राख होनेवाली है, (२) अग्ने नय सुपथा—अग्ने! हमें ऋजु-मार्ग से ले जा—और (३) योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्—जो पुरुष आदित्य में निवास करता है वह मैं हूं—ये तीन अन्तिम मन्त्र हैं। वायु ॐकार में का 'उ'-कार, अग्नि 'अ'-कार और सूर्य (अथवा इन्द्र) 'म'-कार है, इसलिए इसमें शक रहता ही नहीं कि इन तीन मन्त्रों में ॐकारोपासना का प्रतिपादन होना चाहिए। और पहले वायु-विषयक मन्त्र को 'ॐक्रतो स्मर कृतं स्मर' की पूरणिका जोड़ी गई है। इसलिए अनुमान करते बैठने की आवश्यकता ही नहीं। 'क्रतु' शब्द का अर्थ होता है कर्म-विषयक प्रेरणा या संकल्प। जिस प्रकार अविरोधवृत्ति या ॐकारोपासना ही 'ब्रह्म-कर्म' का आधार है, इसलिए 'ॐतत्सत्' के ब्रह्म-निर्देश का गीता ने कर्म-परक अर्थ लगाया है, वैसे ही ॐकार को 'क्रतु' या 'कर्म-प्रेरक' विशेषण जोड़कर 'हे कर्म-प्रेरक ॐकार किये हुए कर्मों का स्मरण कर', इस प्रकार दधीचि ऋषि ने ॐकार से प्रार्थना की है। इससे स्पष्ट है कि यजुर्वेद के ये अन्तिम तीन मन्त्र ॐकार की तीन मात्राओं का विवरण करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। लेकिन तीन मात्राओं के योग से ध्यान के द्वारा निष्पन्न होनेवाली, तीन मात्राओं के परे की आधी मात्रा चूंकि स्वतंत्र निर्दिष्ट किये बिना उपासना पूरी या बिलकुल ही हो नहीं सकती, इसलिए ॐ खं ब्रह्म—ॐ यानी 'खं ब्रह्म—' इन शब्दों से अनासक्ति या अविरोधात्मक शान्ति सूचित कर यजुर्वेद की समाप्ति की गई है। साढ़े तीन मन्त्रों से साढ़े-तीन मात्राओं की उपासना करने पर वेदों का अन्त होना सहज ही है। इनमें से पहले तीन मात्राओं का विस्तृत विचार उपनिषदों के अध्ययन में आगे चलकर करना होगा। इसलिए अभी शान्ति-सूत्र में खं-ब्रह्म की उपासना कर मुक्त होना ही ठीक है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधा मन्त्र ईशावास्योपनिषद् में न हो, फिर भी यजुर्वेदीय माने जानेवाले बृहदाकारण्यकोपनिषद् में आया है (बृ. ५—१)। और बाद में 'द'-कार की आख्यायिका कही गई है (बृ. ५—२)। शान्ति की प्राप्ति के लिए दम-दान-दया ये तीन साधन हैं, इसीलिए शान्ति-सूचक खं-ब्रह्म की संगति 'द'-कार से जगती है। लेकिन पहले तो प्रश्न है 'खं-ब्रह्म' यानी क्या ? और उसका शान्ति से कौन-सा सम्बन्ध है ?

ॐ 'खं-ब्रह्म' है, यह समझने के लिए खं-ब्रह्म का मतलब समझना आवश्यक है। इस खं-ब्रह्म के बारे में छान्दोग्योपनिषद् के चौथे अध्याय में एक आख्यायिका कही गई है : "एक उपकोसल नामक बालक सत्यकाम-जाबाल के आश्रम में ब्रह्मचर्यपूर्वक रहा। उसने बारह वर्ष तक (तीन) अग्नियों की उपासना की। लेकिन गुरु ने दूसरे शिष्यों का समावर्तन तो किया, सिर्फ इसका नहीं किया। तब गुरु-पत्नी गुरु से कहने लगी, 'बेचारा चन्दन के समान घिस चुका है, उसे आप विद्या नहीं देते तो अग्नि आपको दोष देंगे। इसलिए विद्या देकर बालक को छुट्टी दें।' फिर भी उस ओर ध्यान न देकर गुरु प्रवास पर चले गए। तब दुःखी होकर बालक ने उपवास का सत्याग्रह शुरू किया। गुरु-पत्नी कहती, 'बेटा, भोजन करो। खाते क्यों नहीं ?' बालक उत्तर देता, 'मनुष्य को अनेक चिन्ताएं रहती हैं। मुझे भी ऐसी कई मानसिक चिन्ताएं हैं। इसलिए नहीं खाता।' आखिर तीनों अग्नियों ने विचार किया, बेचारा बालक हमारी सेवा करके तपा है, हमीं उसे विद्या दे दें। फिर उन्होंने उपकोसल को 'प्राणों ब्रह्म, कं-ब्रह्म, खं-ब्रह्म' इस विद्या का उपदेश दिया।" इस आख्यायिका की तीन अग्नियों को तीन मात्राओं की जगह मान लें तो 'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म'—आत्मा ब्रह्म है, 'क' ब्रह्म है, 'ख' ब्रह्म है—यह आधी मात्रा होगी। आत्मा ब्रह्म है, इसका अर्थ तो हम समझ सकते हैं; लेकिन प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि कं-ब्रह्म और खं-ब्रह्म यानी क्या ? और वही प्रश्न उपकोसल ने भी पूछा है। 'कंच तु खं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च न विजानामि'—यह 'क' और 'ख' कुछ समझ में नहीं आते। इसपर अग्नियों ने स्पष्टीकरण किया—'यद्वाव कं तदेव खं, यदेव खं तदेव कम्'–क यानी ख और ख यानी क। 'क यानी ख, ख यानी क और दोनों मिलकर क्या ?' दोनों मिलकर आत्मा, ब्रह्म, ॐकार। ॐकार चूंकि वाङ्मय ब्रह्म है, इसलिए क=ख=ग=घ=ॐ, यही समीकरण सहज सिद्ध हो जायगा। और 'अमंत्रमक्षरं नास्ति' प्रत्येक अक्षर (ॐकार के समान) मंत्र रूप ही है—भी इसी दृष्टि से कहा गया है। लेकिन कं-ब्रह्म और खं-ब्रह्म ये दो ही पर्याय चुनने में क्या हेतु होगा ? क और ख शुरू के व्यञ्जन हैं, इसलिए सारी वर्ण-माला के प्रतिनिधि के रूप में उनका चुनाव किया गया है। इस अर्थ की अपेक्षा ऋषियों की पद्धति के अनुसार इसमें कुछ-न-कुछ अधिक अर्थ होना चाहिए। अब वह अर्थ कौन-सा है ? प्रथमत: 'कं-ब्रह्म' को छोड़कर 'खं-ब्रह्म' का ही अर्थ खोजना चाहिए, क्योंकि उसीका विचार करना प्रस्तुत है और श्रुति ने भी 'कं ब्रह्म' को छोड़कर सिर्फ 'खं ब्रह्म' का ही अर्थ दिया है। 'प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः' (अग्नियों ने परोक्ष रीति से उपकोसल को) आत्म-तत्त्व के साथ आकाश की उपासना करने को कहा, उपनिषदों में यों अर्थ बताया गया है। 'ख' शब्द का 'आकाश' अर्थ कोश में भी दिया रहता है। उस अर्थ को लेकर उपनिषदों ने तय किया है कि ॐकार यानी 'आकाश रूपी ब्रह्म' यह भाव 'ॐ खं-ब्रह्म' यजुर्वेदीय ऋषियों का है। ब्रह्म को आकाश की उपमा नित्य देते हैं। सृष्टि के सारे भौतिक पदार्थों में आकाश का स्वरूप चूंकि ब्रह्म के निकट है, इसलिए 'आकाशोब्रह्मेति'—आकाश ही ब्रह्म (छां. ३-१, ८-१) इत्यादि श्रुतिवचन 'नभासारिखें रूप या राघवाचें'—इस राघव का रूप नभ के समान है—इत्यादि सन्त-वचनों ने आकाश के स्थान पर ब्रह्म-भावना मानकर चलने को कहा है—

> "नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
> न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जिसे न शस्त्र छेदन करते हैं, न आग जलाती है, न पानी भिगोता है, न हवा सुखाती है।" यह वर्णन जैसे आत्मा को या ब्रह्म को लागू होता है, वैसे ही आकाश को भी लागू हो सकता है। यही नहीं, बल्कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक अथवा उपमान और उपमेय का यह मौलिक भेद आगे चलकर नष्ट हो आकाश शब्द ही ब्रह्म-वाचक बन गया, यह ब्रह्म-सूत्र में कहा गया है। (ब्र. सू. १-१-२२)। आकाश और ब्रह्म अनेक गुणों में समान हों, फिर भी किस विशिष्ट गुण के कारण 'ॐखं-ब्रह्म' इस ब्रह्म-वाचक संकेत-मंत्र में ॐ और ब्रह्म के बीच में 'खं' को स्थान मिला है? इसका उत्तर हमारी राय में आकाश की अविरोध-वृत्ति अथवा शान्ति ही है। अन्न के बिना कुछ महीने चल सकता है, पानी के बिना कुछ दिन निभाया जा सकता है, हवा के बिना कुछ क्षण टिका जा सकता है, लेकिन आकाश के बिना? आकाश के बिना का अर्थ क्या—इसकी कल्पना तक नहीं हो सकती। 'जेथें जातों तेथें तूं माझा सांगाती'—जहां जाता हूं वहां तू मेरे साथ रहता है—इतनी व्यापक सत्ता होने पर भी अविरोध-वृत्ति के कारण उस सत्ता का भास तक नहीं होता। जो सरकार कम-से-कम सत्ता इस्तेमाल करती है वह ज्यादा-से-ज्यादा उत्तम है—यह कसौटी आकाश के समान और किसी भी भौतिक पदार्थ को लागू नहीं होती। 'स्वर्ग के ऊपर, पृथिवी के नीचे, वैसे ही बीच के अन्तरिक्ष में, त्रैकालिक सत्ता किसकी है?' गार्गी के इस प्रश्न के उत्तर में याज्ञवल्क्य ने 'आकाश की सत्ता' कहा। पर जब गार्गी ने पूछा, 'इस आकाश पर किसकी सत्ता है?' तब उन्होंने अन्तिम उत्तर दिया (ॐकार-रूप) अक्षर की सत्ता (बृ. ३-८)। ईश्वरीय साम्राज्य के स्वातन्त्र्यवाद या अविरोध-वृत्ति के रूप में (ख) आकाश का चुनाव किया गया है। आकाश का नील-वर्ण भी अविरोध-वृत्ति का सूचक है, इसलिए 'घन-नील श्यामल' परमेश्वर भक्तों का विशेष प्रिय बना है। आकाश का रंग आंखों को शान्ति देता है, इसलिए दूसरे अभिमानी रंग छोड़कर, आकाश का खून करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए कटार के समान घुसेड़ी गई इमारत की दीवार पर भी आकाश का रंग चढ़ाया जाता है। यह अविरोध-वृत्ति का विरोध करने के बदले प्रायश्चित्त तो नहीं है ? आकाश की इस शान्त वृत्ति के कारण लोगों ने आकाश को शून्य नाम देने में भी कसर नहीं की। 'उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्' (ऋग्वेद २-१२-५)—आत्मा है ही नहीं—कहनेवाले लोगों की परम्परा क्या वेद-काल से नहीं चली आई ? लेकिन यों 'खं-ब्रह्म' की अवगणना होती रही हो, फिर भी यह 'खं-ब्रह्म' इतना क्षमाशील है कि वह अपनी अवगणना करनेवालों के हृदय में निवास करता है। इस हार्दाकाश को किंवा हृदयस्थ अविरोध-वृत्ति को चूंकि 'खं-ब्रह्म' संज्ञा दी गई है, इसलिए 'ॐ खं-ब्रह्म' और 'ॐशान्ति' ये पर्याय ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार 'ॐ खं-ब्रह्म' इस सांकेतिक मन्त्र के द्वारा शान्ति की उपासना सुझाकर यजुर्वेद ने अवतार-समाप्ति की है।

शान्ति का पुष्टि के साथ और इसलिए तुष्टि के साथ नित्य का सम्बन्ध है। इस कारण शान्ति के बिना सुख मिलना असम्भव है, (गी० २–६६)। यह अध्यात्म का पहला सिद्धान्त है। आत्मा चूंकि अविरोध-वृत्ति की मूर्त्ति है, इसलिए ज्ञानेश्वर की उक्ति 'सर्व सुखाचें आगर। बाप रखुमा-देवी-वर'—रुक्मणि का पति श्रीकृष्ण सब सुखों का घर है—इस उक्ति में सुखों की परिसीमा हो गई है। संसार में भी जो सुखों का अंश है, वह शान्ति के ही कारण आया है। शान्ति और सुख इन दोनों का इतना साहचर्य होने के कारण शान्ति-वाचक 'शम्' शब्द वेदों में जहां-जहां आया है, वहां-वहां वेद-भाष्यकारों ने प्रायः उसका अर्थ सुख किया है। और सुख-वाचक 'क' शब्द का उपयोग कर उपनिषदों ने भी 'क' यानी 'ख' और 'ख' यानी 'क' कहा है। तैत्तरीयोपनिषद् में तो छान्दोग्य में के सांकेतिक 'क' और 'ख' का योग कर 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्'—यदि यह आकाश आनन्द न होता—तो 'कोह्येवान्यात् कः प्राण्यात्'—प्राण-अपान की (यानी श्वासोच्छ्वास की) क्रिया भी कौन कर पाता ?—इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार क-ख का जीवनाधारत्व वर्णित है। 'आकाश-आनन्द' यानी 'आकाश-जैसा विशाल आनन्द' यह अर्थ तो है ही। लेकिन क-ख दोनों शब्दों की ओर ध्यान दिया गया है, इसलिए इसका आंतरिक अर्थ है 'शान्ति'-जन्य आनन्द। यदि यह 'आकाश-आनन्द' न होता तो प्राण-क्रिया न होती, यह कहने में उपकोसल को अग्नि का सिखाया हुआ 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' मन्त्र निःसन्देह अनुसंधेय है। इसलिए उपकोसल को मिले हुए मन्त्र में (१) आत्मा–प्राण–ॐकारोपासना का आधार है (२) शान्ति—'ख'– ॐकारोपासना का स्वरूप है, और (३) आनन्द—'क'—ॐकारोपासना का फल है, ये तीन तत्त्व इकट्ठे हुए हैं। लेकिन आत्मा का उत्तम वर्णन शान्ति की भाषा में ही हो सकता है, और आनन्द और शान्ति तो पर्याय ही हैं, इसलिए शान्ति के तीन बार उच्चारण करने से इन तीनों तत्त्वों का एक साथ स्मरण हो सकता है।

८

ॐकारोपासना और शान्ति का अन्योन्य सम्बन्ध कैसा है, इस सम्बन्ध में अभीतक जो विवेचन किया गया है वह दिग्दर्शनार्थ यथेष्ट है। वस्तुतः ऋषियों के सभी गीत ॐकार और शान्ति के विवाह-मङ्गल में गाये गये हैं। इस दृष्टि से ॐकारोपासना का स्पष्टीकरण ही उपनिषदों का अध्ययन है। यह अध्ययन चूंकि क्रमशः होनेवाला है, इसलिए अभी अधिक गहराई में उतरने की आवश्यकता नहीं। फिर भी अभी तक के विवेचन में ॐकार की तीन मात्राओं के जो भिन्न-भिन्न अर्थ बताये गए हैं, उन्हें एक जगह इकट्ठा करने की दृष्टि से, आगे एक तालिका दी गई है। उसमें अभी तक नहीं किये गए विवेचन का भी समावेश किया गया है। उस तालिका का ध्यान-पूर्वक मनन करना जरूरी है। अर्वाचीन वेदान्त-ग्रंथ में जैसे सृष्टि के पांच विभाग कर विवेचन किया जाता है, उसी प्रकार से उपनिषदों में प्रायः पंचीकरण के बदले, ॐकार की तीन मात्राओं को ध्यान में रखकर त्रिवृत्करण (छा० अध्याय ६) किया जाता है, क्वचित पंचीकरण-पद्धति भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण की गई है। उदाहरणार्थ वाक्, मनस और प्राण इन तीनों प्राणों में चक्षुः श्रोत्र का समावेश कर पंच-प्राण वनाये गए हैं, यह वात इस लेख के प्रारम्भ में आ ही चुकी है। लेकिन सामान्य प्रवृत्ति त्रिवृत्-करण की दिखाई देती है। उस दृष्टि से इस तालिका में (अभी तक न आये हुए भी) अनेक तत्त्वों का उल्लेख किया गया है और इसलिए यह तालिका आगे के अध्ययन में भी उपयोगी होगी। उसका मनन करना कई दृष्टियों से मनोरंजक भी होगा। उपनिषदों की विचार-प्रणाली चूंकि सर्व-स्पर्शी है, इसलिए इस त्रिवृत्-करण में वहुतेरे शास्त्रों का समावेश किया गया है। न्याय, व्याकरण, गणित, पदार्थ-विज्ञान, शरीर, मानस, समाज-धर्म, सांख्य, योग, वेदान्त, इत्यादि अनेक शास्त्रों के दृष्टान्त लेकर ऋषियों ने ॐकार का विवेचन किया है। जैसे, क्या खाया जाय (या इष्टकाः) कितना खाया जाय (यावतीः) कैसे खाया जाय (यथा) ये आहार-शास्त्र (डायटेटिक्स) के तीन मुद्दे भी कठोपनिषद् में अप्रत्यक्ष रीति से उल्लिखित हैं, यह साफ मालूम होता है। अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए 'इष्टकाः' कौन-सी, कितनी और कैसी ली जाय, यह एक मुद्दा है। उसीको यदि कोई जठराग्नि पर भी लागू करे तो उसपर आपत्ति उठाने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। सारांश यह है कि 'न त्वहं तेषु ते मयि'—वे मुझपर अवलम्बित हैं, मैं उनपर अवलम्बित नहीं—भगवान की इस उक्ति के अनुसार अध्यात्म-विद्या के सिद्धान्त दूसरी विद्याओं को भी सहज ही व्याप्त करनेवाले हैं। वस्तुतः जलानेवाला अग्नि जठराग्नि नहीं है, उसी प्रकार वह तिल-चावल ही का भक्षण करनेवाला होमाग्नि भी नहीं है। वह अग्नि आध्यात्मिक है और उसका ज्ञान हुए बिना उपनिषदों का अध्ययन पूर्ण होना संभव नहीं, इसलिए यथा-समय उसका भी विवेचन करना ही पड़ेगा। अस्तु, इसलिए सूचना है कि इस तालिका का चिन्तन वाचक आध्यात्मिक दृष्टि से ही करें।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-संवादी ॐ

अ	उ	म्	
अग्नि	वायु	इन्द्र	(ईश० १६.१८, के.५)
ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	
(ज्ञानयोग)	(कर्मयोग)	(भक्तियोग)	(बृ. १. ५. ५)
पृथ्वी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	(बृ. १. ५. ४)
जागरित	स्वप्न	सुषुप्त	(माण्डूक्य)
वाक्	मनस्	प्राण	(बृ १. ५. ३)
भूः (व्याहृति)	भुवः	सुवः	(तै. १. ५)
'तज्ज' उत्	'तल्ल' गीः	'तदन' थम्	(छां. ३. १४)
आधिभौतिक	आधिदैविक	आध्यात्मिक	(त. भाष्य १. १)
लक्ष्मी (भारती)	शक्ति (इळा)	सरस्वती	(ऋ. ३. ४. ८)
दम	दया	दान	(बृ. ५. २)
निष्कामत्व	निर्लोभत्व	निर्वैरत्व	(गी. १६)
न घातयति	न हन्ति	न हन्यते	(गी. २)
हेतु-कर्तृत्व (त्र्यम्बक का)	कर्तृत्व	कर्मत्व	(गी. भाष्य)
प्रथम नेत्र (विष्णु का)	द्वितीय नेत्र	तृतीय नेत्र	(ऋ. ७. ५६. ४)
पहला कदम (गायत्री का)	दूसरा कदम	तीसरा कदम	(ऋ. १. २२. १८)
प्रथम चरण (चमस की)	द्वितीय चरण	तृतीय चरण	(बृ. ५. १४)
लम्बाई	चौड़ाई	मोटाई	(छां. ३. १५. १)
प्रातः (सवन)	माध्यंदिन	सायं	(छां. ३. १६)
पुल्लिग	स्त्रीलिंग	नपुंसक	(कौषीतकि. १. ७)
प्रत्यक्ष	अनुमान	शब्द	(योगसूत्र)
प्राण (वायु)	अपान	व्यान	(तै. १. ५. ३)
तमस्	रजस	सत्त्व	(गी. १७)
अन्नमय + प्राणमय (कोश)	मनोमय + विज्ञानमय	आनन्दमय	(तै. ३. १०. ५)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थूल (देह)	सूक्ष्म	कारण	(माण्डूक्य)
वैश्वानर	तैजस	प्राज्ञ	(माण्डूक्य)
आसन	प्राणायाम	प्रत्याहार	(योगसूत्र)
श्रोत्रियत्व	अ-कामहतत्व	अ-वृजिनत्व	(बृ. ४. ३. ३३)
ब्रह्मचर्य	गार्हस्थ	वानप्रस्थ	(छां. २. २३)
बाह्य	मध्यम	अभ्यंतर	(प्रश्न. ५. ६)
क्या ?	कितना ?	कैसा ?	(कठ. १. १५)
कृष्ण	लोहित	शुक्ल	(श्वे. ४. ५)
अण्डज	जीवज	उद्भिज्ज	(छां. ६. ३. १)
अन्न	अप्	तेजस्	(छां. ६. २)
मनुष्य	पितर	देव	(बृ. १. ५. ६)
माता	पिता	प्रजा	(बृ. १. ५. ७)
विज्ञात	विजिज्ञास्य	अविज्ञात	(बृ. १. ५. ८)
भूत	भवत्	भविष्यत्	(माण्डूक्य)
पुत्रैषणा-त्याग	वित्तैषणा-त्याग	लोकैषणा-त्याग	(बृ. ३. ५. १)
यज्ञ	दान	तपस	(गी. १७)
माता की शिक्षा	पिता की शिक्षा	गुरु की शिक्षा	(बृ. ४. १. २)
त्वम्	असि	तत्	(छां. ६)
क्रिया	इच्छा	ज्ञान	(योग-चूड़ा. ८६)
परा	पश्यन्ती	मध्यमा	(ऋ. १. १६४. ४५)
शान्ति (साधन)	शान्ति (स्वरूप)	शान्ति (साध्य)	

सूचना :

१. यह तालिका दिग्दर्शनार्थ समझी जाय, संपूर्ण नहीं।

२. आधी मात्रा के भिन्न-भिन्न अर्थ गुप्त रखे गये हैं। पाठक ढूंढ़ निकालें।

३. अकारादिकों के पर्याय परस्पर पर्याय नहीं होते।

४. इस अर्थ के बारे में आग्रह रखना संभव नहीं। जैसे, यजुर्वेद का सम्बन्ध स्वर्ग से (यानी 'म'-कार से), और सामवेद का अन्तरिक्ष से (यानी 'उ'-कार से) ऐसी उलट-पुलट व्यवस्था भी मिलती है। (तै. १.५.२) वैसे ही 'उ'-कार यानी 'प्राण' और 'म'-कार यानी 'मन' ऐसा अर्थ भी करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

: ४ :

परमार्थ की प्रस्थान-त्रयी

१

ॐकार की तीन मात्राओं को ध्यान में रखकर सारी सृष्टि के और सृष्ट-तत्त्वों के तीन-तीन विभाग करने की जो पद्धति उपनिषदों में ग्रहण की गई है, वह अध्यात्म-शास्त्र पर भी लागू होती है। समग्र परमार्थ के (१) सिद्धान्त (२) साधना, और (३) पूर्व तैयारी, यही तीन विभाग होते हैं। इन्हींकी, गीता की भाषा में, सांख्य, ध्यान और कर्म की विशिष्ट संज्ञाएं हैं। कभी-कभी साधना और पूर्व-तैयारी, ये दो अलग-अलग विभाग न मानकर, दोनों को एक ही साधना के अन्तर्बाह्य दो पहलू समझकर दोनों का समावेश व्यापक संज्ञा 'योग' में किया जाता है। वैसा करने पर सम्पूर्ण परमार्थ के सिद्धान्त और (अंतरंग-बहिरंग) साधना अथवा 'सांख्य' और 'योग' सिर्फ यही दो विभाग होते हैं। और आखिर में, साधक की दृष्टि से चूंकि सिद्धान्त का उपयोग सिर्फ साधना को दिशा दिखलाना ही है, इसलिए इन दोनों विभागों का योग भी व्यापक संज्ञा में संग्रहीत होकर एक ही योग के सांख्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग—ये तीन प्रकार होते हैं। योग को यदि हम परमार्थ का आत्मा मानें तो इस आत्मा के तीन अंग सांख्य-योग मन, ध्यान-योग प्राण, और कर्म-योग वाणी इसी प्रकार कल्पित किये जा सकेंगे।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्म-योगेण चापरे ॥

"कोई ध्यान-मार्ग से, कोई सांख्य-मार्ग से, कोई कर्म-मार्ग से आत्म-दर्शन करते हैं (गीता १३–२४)", इस वाक्य में यद्यपि गीता ने मोक्ष के तीन 'स्वतन्त्र' मार्ग सांख्य, ध्यान और कर्म दिखाये हैं, फिर भी दूसरी दृष्टिसे इन तीनों को तीन स्वतंत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़ीने न कहकर, एक ही ज़ीने की तीन सीढ़ियां कहा जा सकता है। या फिर यह कहें कि किसी सर्पाकृत ज़ीने में जैसे अनेक संयुक्त ज़ीने रहते हैं, वैसे ही एक ही परमार्थ के मार्ग में अपने-आपमें स्वतन्त्र ये तीन अवान्तर मार्ग हैं। उपरोक्त गीता-वचन में तीनों मार्गों से 'साधक आत्म-दर्शन करते हैं' यह भाव दिखलाने के लिएं 'आत्मा के द्वारा आत्मा को आत्मा में देखते हैं;' ऐसी चक्करदार भाषा प्रयुक्त की है। लेकिन इन तीनों मार्गों का मिलकर एक ही विशाल मार्ग बना है, यह कल्पना यदि करनी हो तो 'आत्मा के द्वारा देखना' यह कर्म-योग का तत्त्व, 'आत्मा को देखना' यह सांख्य-योग का तत्त्व, और 'आत्मा में देखना' यह ध्यान-योग का तत्त्व, ऐसा पृथक्करण किया जा सकता है। और तीनों मार्गों के मिलने से, 'आत्मा से, आत्मा को, आत्मा में' देखने की सम्पूर्ण क्रिया होती है, इस चक्करदार भाषा में से एक जमा हुआ अर्थ निष्पन्न होगा।

उपनिषदों की ब्रह्म-विद्या का सारा अर्थ संकलित रूप से ॐकार में एकत्रित है, इसलिए उसमें परमार्थ-वृक्ष की उपर्युक्त तीनों शाखाओं का बीज-रूप में समावेश किया गया है। यह किस तरह से होता है? यह समझने के लिए फिर एक बार 'ॐ-तत्-सत्' की शरण जाना होगा। 'ॐ-तत्-सत्' संकेत में ॐकार के व्यक्त और अव्यक्त सृष्टि में समाये हुए अर्थ प्रकट करने के लिए, सोचा जा सकता है कि 'सत्' और 'तत्' संज्ञाएं रखी गई हैं। सत् शब्द के द्वारा तात्त्विक स्वरूप दर्शाया गया है। ॐकार का 'सत्त्व' देखना हो तो ॐ-सत् की उपासना करनी चाहिए और ॐकार का तत्त्व देखना हो तो ॐ-तत् की उपासना करनी चाहिए। लेकिन पहले सत्त्व को अच्छी तरह देखे विना तत्त्व को समझने की आशा नहीं की जा सकती। सत् ईश्वर का व्यक्त या सगुण रूप है और 'तत्' (यानी वह) अव्यक्त या निर्गुण रूप है। 'वह' यानी दृश्य सृष्टि के परे का, या जो 'यह' नहीं है वह—इस तरह का अर्थ है। 'नेति नेति' अभावात्मक आदेश का तत् भावात्मक रूपान्तर है। सृष्टि के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाहर का परमेश्वर कैसा है यह समझने के पहले, सृष्टि के भीतर समाया हुआ परमेश्वर कैसा है, यह पहचानना आवश्यक है। 'सत्' शब्द चूंकि 'तत्' की जोड़ में बैठाया गया है, इसलिए उसका अर्थ एतत् (यानी 'यह') समझना चाहिए और तत्-सत् के बदले चूंकि 'तत् एतत्' संज्ञा भी उपनिषदों ने ही प्रयुक्त की है, इसलिए अनुमान करने की भी आवश्यकता नहीं रहती।

'तदेतत्'—इति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं न 'तद्' विजानीयां किमु भाति विभाति वा।

यह मन्त्र कठोपनिषद् (५—१४) में आया है और उसके तदेतत् ब्रह्म-निर्देश की ओर ही भाष्यकारों का विशेष ध्यान गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। "अनिर्देश्य (यानी अनिर्वचनीय) और परम (यानी श्रेष्ठ) सुख का अनुभव लेने के लिए ऋषि, तदेतत् (वह-यह) संज्ञा के द्वारा ईश्वर का चिन्तन करते हैं। इसमें एतत् या परम सुख क्या है, यह समझने पर भी तत् या अनिर्देश्य सुख का अर्थ क्या है, यह कैसे जाना जाय ? इस 'तत्' पर भीतर या बाहर से प्रकाश डालनेवाला क्या कोई साधन है ? इस तरह इस मन्त्र में सवाल पूछा गया है। और अगले ही मन्त्र में 'इस तरह के और कोई साधन मिलनेवाले नहीं हैं, क्योंकि यह अनिर्वचनीय 'तत्' प्रकाश की और प्रकाशकों की भी मर्यादा के बाहर का है," ऐसा उत्तर भी दे दिया है। (कठ. ५—१५) परन्तु परमेश्वर का यह स्वरूप समझा फिर भी 'वह' स्वरूप कैसे समझ में आयेगा, यह प्रश्न, अनुभव की दृष्टि से निरर्थक सिद्ध होगा, क्योंकि 'एतत्' का अथवा 'सत्' का ज्ञान होने के बाद 'तत्' का दर्शन आप-से-आप हो जाता है, उसके लिए अलग साधन की जरूरत नहीं रहती। यह वस्तु-स्थिति है। यही बात उपनिषद् की अन्तिम वल्ली में, किञ्चित् शब्द-भेद से, कही है—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस् तत्त्व-भावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्व-भावः प्रसीदति ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"परमेश्वर का 'अस्तित्व-भाव' से और 'तत्-त्व भाव से' ग्रहण करना चाहिए। परन्तु उसमें (पहले) ईश्वर का अस्तित्त्व-भाव ध्यान में लेना चाहिए यानी (पीछे से) ईश्वर का तत्त्व-भाव आप-से-आप (चित्त में) स्फुरित होगा। (कठ. ६—१३)" इस मन्त्र में 'एतत्' अथवा 'सत्' के बदले 'अस्ति' शब्द का प्रयोग है। सत् अस् धातु का वर्तमानकालिक कृदन्त है, इसलिए उसका अक्षरशः अर्थ 'जो है', या 'अस्तित्व-युक्त' होता है। यानी इस मन्त्र में परमेश्वर के तात्त्विक स्वरूप (किंवा 'वह'-पन) को समझने के लिए परमेश्वर के सात्त्विक स्वरूप (या 'है'-पन अथवा 'यह'-पन) को समझना ही साधन रखा गया है।

२

ॐ गूढ़ ध्वनि है, इसलिए उसका गुप्त अर्थ 'तत्'-कार के द्वारा सूचित किया जाता है वैसे ही वह सनातन 'हां' के रूप में प्रसिद्ध है, इसलिए उसका प्रकट अर्थ 'सत्-कार' के द्वारा दिखाया जाता है। सांख्य, ध्यान और कर्म यह परमार्थ की प्रस्थान-त्रयी—इस 'सत्'-कार में गृहीत है और 'तत्'-कार के द्वारा परमार्थ की आधी मात्रा दरसाई गई है। 'सच्च त्यच्चाभवत् (तै. २—६)' इस श्रुति में एक ही परमेश्वर 'सत्' और 'त्यत्' (या प्रकट और गुप्त) ऐसे दो रूपों से सजा हुआ कहा गया है। उसमें का 'त्यत्' 'तत्' का ही परोक्ष रूप है। इस प्रकार ईश्वर के गुप्त और प्रकट दो रूप दिखलाने के बाद 'तत् सत्यमित्याचक्षते'—(इस द्वि-रूपधारी) ईश्वर का नाम सत्य भी है—वाक्य दिया हुआ है। इससे 'तत्' का 'त्यत्' परोक्ष रूप बनाने में क्या हेतु होगा, इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। परमेश्वर को 'स-त्य' संज्ञा दी है, इसलिए उसके दो अंगों के लिए 'सत्' और 'त्यत्' अर्थवाली 'स' और 'त्य' सांकेतिक संज्ञाएं बनाई गई हैं। प्रकट अर्थ से ॐ-सत् और गुप्त अर्थ से ॐ-तत् (या त्यत्), यों ॐकार के दो अर्थ हैं। 'अध्ययन' के तीसरे अध्याय में कर्मयोग की दृष्टि से ॐकार का मर्यादित अर्थ किया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु प्रस्तुत विवेचन में सम्पूर्ण अध्यात्मविद्या की दृष्टि से ॐकार का व्यापक अर्थ किया है। ॐकार का गुप्त अर्थ शब्दों के द्वारा नहीं खोला जा सकता और साधक की दृष्टि में उसकी विशेष आवश्यकता भी नहीं है। 'सिर्फ कुछ-न-कुछ गूढ़ अर्थ है, और वह भी संभवत: ऐसा होगा कि उसके मिलने पर हमारा निश्चय किया हुआ प्रकट अर्थ शायद व्यर्थ हो जायगा', इतनी जानकारी रहे तो काफी है। प्रकट अर्थ ही साधक के लिए उपयोगी है। लेकिन आग्रह की वृत्ति न रहे, इसलिए गुप्त अर्थ का अंकुश हमारे पीछे है, बस हम इतना अनुसंधान रखें तो हमारा काम बन जायगा। 'तत्'-कार के द्वारा यदि अध्यात्म-विद्या की आधी मात्रा सूचित होती होगी, तो शेष तीन मात्राओं का संग्रह 'सत्'-कार में होना चाहिए। ये तीन मात्राएं यानी स्वाभाविक ही, सांख्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग—एक 'सत्'-कार में कैसी छिपकर बैठी हैं इसे समझने के लिए 'सत्'-कार के भिन्न-भिन्न अर्थों की जांच-पड़ताल करनी होगी। भगवद्गीता के (१७-२६)—

> सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
> प्रशस्ते कर्मणि तथा सत्शब्दः पार्थ युज्यते॥

इस श्लोक में 'सत्' शब्द का अर्थ कहा गया है : (१) सद्भाव, (२) साधु-भाव और (३) प्रशस्त-कर्म। सद्भाव यानी 'होना-पन' या वस्तु-स्थिति। 'सत्' का मूल अर्थ है 'होना', फिर वह 'अच्छा हो या न हो'। "जिस प्रकार सत्पुरुष के बाल बढ़ते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में से विश्व-विस्तार होता है (मुण्डक १—७)" इस वाक्य में भाष्यकारों ने सत्-पुरुष, यानी 'जिन्दा या मौजूद पुरुष' यही सादा अर्थ लिया है। लम्बे 'तन्तुवाली भारतीय कपास से' उसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा। सत् शब्द का यह मूल अर्थ ग्रहण कर 'सद्भाव' अन्तर्गत अध्यात्म-विद्या के वस्तु-वर्णनात्मक विभाग का समावेश किया जा सकेगा। ईश्वर का अस्तित्व और तदनुषंग से निश्चित होनेवाले सारे सिद्धान्त इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शीर्षक के नीचे आयंगे। सद्भाव या अस्तित्त्व का सिद्धान्त निश्चित हो जाने पर उसके आधार से साधुत्व के नियम भी अपने-आप तय हो जाते हैं। या दूसरे शब्दों में कहें तो 'क्या है' यह मालूम होने पर क्या 'होना चाहिए' यह निश्चित किया जा सकता है। इसीलिए पाश्चात्य नीति-शास्त्र को सृष्टि-शास्त्र की उलझन में पड़कर विकास-वाद के अनुसार अपना आसन घुमाना पड़ता है। साधुत्व की अस्वाभाविक व्याख्या करना संभव नहीं, इसलिए 'स्व-भाव' (नेचर) की जांच कर, उसके अनुरूप नीति-शास्त्र की रचना करना उचित ही है। लेकिन स्वभाव कैसा है या अस्तित्त्व का सिद्धान्त क्या है, इसकी जांच करने के लिए नीति आधि-भौतिक (फिजिकल) सृष्टि-शास्त्र की शरण जाती है, और 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'—'स्वभाव' निश्चित करने के लिए आध्यात्मिक (मेटाफिजिकल) सृष्टि-शास्त्र का आश्रय लेना चाहिए—यों गीता कहती है। इन दोनों में यह महत्त्वपूर्ण अन्तर है, लेकिन अन्तर महत्त्वपूर्ण हो तो भी सिद्धान्त और साधना या अस्तित्त्व और साधुत्व का अन्योन्य-सम्बन्ध उभय-पक्षों में कायम ही रहता है, इसलिए सत्-शब्द का वाच्यार्थ 'सद्भाव' है और उसीमें से लक्षणा के द्वारा दूसरा अर्थ साधुभाव सिद्ध हुआ है। साधुत्व यानी अस्तित्त्व का भावनात्मक सृष्टि में रूपान्तर है।

असन्नेव स भवति असद्-ब्रह्मेति वेद चेत्।
अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः॥

"सनातन अस्तित्त्व से इन्कार करनेवाले को 'नष्ट' समझा जाय और स्वीकार करनेवाले को 'सन्त' (तै. २–६)", इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। 'सद्भाव' के अन्तर्गत अस्तित्त्व का सनातन नियम बतानेवाले 'सांख्य' का समावेश होगा और 'साधु-भाव' के अन्तर्गत भावना की भूमिका पर उनका विनियोग करनेवाला 'ध्यान' आयगा। लेकिन जिस तर्क से 'है' में से 'होना चाहिए' अर्थ निकलना है, उसी तर्क से 'होना चाहिए' में से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'करना चहिए' अर्थ निकालना चाहिए। जैसे, सृष्टि में नियमितता का गुण है यह बात सूर्यादि के उदाहरणों के आधार पर सद्भाव से मुझे जंचा दी गई, तब मुझमें भी यह गुण 'होना चाहिए', इस साधु-भावना से मैंने सूर्य का ध्यान करने का निश्चय किया। लेकिन मैं यदि अपना सूर्य-वंशित्व का राज-योग न छोड़कर यह ध्यान करना चाहूंगा तो वह नहीं हो सकेगा। मुझे अपने अव्यवस्थित कार्यक्रम में भी फर्क 'करना' होगा। जनक के द्वारा निमन्त्रित ब्रह्म-परिषद् में आर्त-भाग ऋषियों ने याज्ञवल्क्य से मरणोत्तर जीवन के बारे में यह प्रश्न पूछा था कि 'मरने के बाद पिण्ड के सभी तत्त्व ब्रह्माण्ड के तत्त्वों में मिल जाने पर आत्मा कहां रहता है ?' उपनिषदों में कहा गया है कि इसपर, 'न नौ एतत् सजने'—ऐसे गूढ़ विषय की चर्चा समुदाय में करना ठीक नहीं—यह कहकर याज्ञवल्क्य आर्त-भागों को लेकर परिषद् के बाहर गये, और वहां आत्मा की आगे की गति के बारे में बहुत-सी 'निजी' चर्चा की। 'निजी' चर्चा की बातें फोड़ना स्वाभाविक ही शिष्टाचार के विरुद्ध है। इस बात से पाठकों के दिल न टूट जायं, इसलिए उपनिषदों के रिपोर्टरों ने सारी चर्चा का सारांश एक शब्द 'कर्म' में दिया है। "तौ है यद्चतुः कर्म है व तद्चतुः'—उन्होंने जो भी चर्चा की वह कर्म के बारे में थी—यों कहकर, आगे 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन'—मनुष्य पुण्य-कर्म से पुण्यवान और पाप-कर्म से पापी ठहराया जाता है—इस प्रकार श्रुति ने स्व-मुख से कर्म का महत्व गाया है। 'आत्मा को भावना के अनुसार गति मिलती है', यह सिद्धान्त गलत नहीं है। लेकिन चूंकि भावना का कर्म से निकट सम्बन्ध है, इसलिए आत्मा को कर्मानुरूप गति मिलती है। यह भी कहना स्पष्ट ही है। इसलिए गीता ने 'सत्' शब्द का तीसरा अर्थ 'प्रशस्त कर्म' बतलाया है।

इस प्रकार सद्भाव, साधु-भाव और प्रशस्त-कर्म इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत सांख्य-योग, ध्यान-योग और कर्म-योग इन तीनों का अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए अध्यात्म-विद्या की तीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्राएं दिखाने का काम 'सत्' शब्द कर सकता है। और इन तीन मात्राओं के परे जो भी अर्थ शेष रहा हो वह 'तत्' शब्द में आता है। निशाना मारना हो तो निशाने की दिशा निश्चित करनी चाहिए और बाण को आवश्यक गति मिलनी चाहिए। बाण को आवश्यक गति मिलने पर भी यदि दिशा चूक जाय तो काम नहीं बनेगा। उसी तरह दिशा सही हो, पर आवश्यक गति न मिलने पर भी काम नहीं बनेगा। परमार्थ के लक्ष्य को बांधने के लिए ध्यान-योग के बाण का उपयोग करना पड़ता है। लेकिन सांख्य-योग से निशाने की दिशा मालूम होती है और कर्म-योग से बाण को गति मिलती है। इस प्रकार इन तीनों के तीन काम हैं। गेंद झेलने का काम हाथ का होता है, लेकिन गेंद पर आंख की नजर रखनी चाहिए और पांवों को जहां गेंद गिरनेवाली है, उस जगह दौड़कर जाना चाहिए। परमार्थ की गेंद ध्यान के हाथों से झेलनी होती है, लेकिन कर्म-योग के पैरों से दौड़ना और सांख्य-योग की आंखों से देखना पड़ता है। लेख लिखना है तो ज्ञान तो होना ही चाहिए, लेकिन ज्ञान के साथ-साथ उसे व्यवस्थित रीति से जमाने के लिए तर्क चाहिए और प्रदर्शित करने के लिए भाषा चाहिए। परमार्थ का लेख लिखने में ध्यान-योग की जानकारी, सांख्य-योग का तर्क और कर्म-योग की भाषा, इन तीनों का त्रिवेणी-संगम होना चाहिए। सम्पूर्ण प्राणायाम में भीतर की अशुद्ध हवा बाहर निकालने की रेचक-क्रिया, बाहर की विशुद्ध हवा भीतर लेने की पूरक-क्रिया और इस विशुद्ध हवा को फेफड़ों से संयोग करानेवाली कुम्भक-क्रिया, ये तीनों क्रियाएं होती हैं। इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेने पर परमार्थ के प्राणायाम में कर्म-योग को रेचक, सांख्य-योग को पूरक और ध्यान-योग को कुम्भक कहा जा सकेगा। जीवन की किसी भी सम्पूर्ण क्रिया में सांख्य, ध्यान और कर्म का योग स्पष्ट दिखाई देगा। इन तीनों मात्राओं को हस्तगत कर लेने पर प्रकट पुरुषार्थवाद की सीमा हो जाती है। इसके बाद आधी मात्रा का गुप्त 'योग' साधना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शेष रहता है। इस योग की सार्वभौम सत्ता द्वारा सांख्य, ध्यान और कर्म की स्वतन्त्रता मर्यादित है, इसलिए केवल इन तीनों के बल पर रुक जाना उचित नहीं होगा। नाव, बल्ली या पतवार तीनों ठीक हों, फिर भी यदि वायु की अनुकूलता का योग न सधे तो उससे फल-श्रुति के गड़बड़ी में उलझ जाने की संभावना तो रहती ही है। इसलिए 'सत्'-कार की तीनों मात्राओं के अच्छी तरह जुट जाने के बाद भी, जबतक 'तत्'-कार की आधी मात्रा हाथ नहीं लगती, तबतक फल के बारे में अनासक्त वृत्ति रखना इष्ट है। इसलिए 'तत्'-कार का सच्चा अर्थ जबतक मिल नहीं जाता तबतक साधक की दृष्टि से गीता ने 'तत्' यानी 'फलाशा-त्याग' का काम चलाने लायक अर्थ बताया है। (गीता १७-२५)

३

लेकिन—"कोई सांख्य-मार्ग से, कोई ध्यान-मार्ग से, कोई कर्म-मार्ग से आत्म-दर्शन करते हैं," इस भाषा से जान पड़ता है कि गीता को मोक्ष-प्राप्ति के तीन स्वतन्त्र मार्ग अभिप्रेत होंगे और ऊपर के विवेचन का रुख यह दिखाने की ओर है कि सांख्य, ध्यान और कर्म, ये तीनों एक ही मार्ग के आवश्यक और अपरिहार्य अंग हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि उन्हें एकत्रित कैसे किया जाय ? इस प्रश्न को हल करना बहुत कठिन नहीं है। पहले तो यह बात ध्यान में लेनी होगी कि जिन्होंने एक ही परमार्थ-योग के सांख्य, ध्यान और कर्म ये तीन अंग माने हैं, उन्हें अपनी दृष्टि में इन तीन अंगों में कोई विशिष्ट पौर्वापर्य-क्रम अनिवार्य है, सो बात नहीं।

"पहले करना तुझे कर्म,
कर्म से ही उपासना।
उपासना से मिले ज्ञान,
ज्ञान पाना ही मोक्ष है।"

यह 'एक' क्रम सामाजिक मानस-शास्त्र के सामान्यतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुकूल है, इसलिए शास्त्रकारों ने सुझाया है, और उसी दृष्टि से कर्म-योग को 'पूर्व-तैयारी' नाम दिया जाता है। लेकिन, इसका अर्थ यह नहीं कि यही एक क्रम शास्त्रकारों को मान्य है। अमुक क्रम से जाना चाहिए,यह किसी विशिष्ट सम्प्रदाय का माप-दण्ड हो सकता है, लेकिन शास्त्रीय सिद्धान्त नहीं। 'मनुष्य का मन' इतना उलझनभरा विषय है कि उसके लिए अमुक ही नियम है, यह निश्चित करना कठिन है। कदाचित् मनुष्य का मन (उलझनभरा न हो) फिर भी मनुष्य के मन को सुलझाना कठिन 'जान पड़ता' होगा। कुछ भी हो, मनुष्य के मन का स्वभाव नियमबद्ध नहीं है। यह मनुष्य की भाषा में कहा जायगा। यानी स्पष्ट है कि ऐसे अनियमित मन का बन्दोवस्त करने के लिए कोई निश्चित कार्यक्रम उपयुक्त नहीं होगा। और गीता ने भी—

> यतो यतो निश्चरति मनश् चंचलमस्थिरम् ।
> ततस् ततो नियम्यैतद् आत्मन्येव वशं नयेत् ॥

"मन चंचल और दौड़ता फिरता है, इसलिए जिस-जिस दिशा में वह जाय, उस-उस ओर से उसे बांधकर, आखिर आत्मा में स्थिर करना चाहिए (गी. ६-२६)"—इस प्रकार मनुष्य की विवेक-बुद्धि पर ही सारी जिम्मेदारी सौंप दी है और 'चित्त-वृत्ति-निरोध' की प्रतिज्ञा से (यो. सू. १-२) प्रवृत्त हुए योग-सूत्रों की भी यही दशा है। मन को जीतने के लिए कभी मन में पैदा हुई छोटी-मोटी वासनाओं को तृप्त करना चाहिए, कभी ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि जिससे मन को शोक का स्पर्श हीं न हो, कभी ब्रह्मनिष्ठों के चरित्र का चिन्तन करना चाहिए, कभी मन को जड़-मूढ़ बनाने का प्रयत्न करना चाहिए, इत्यादि अनेक उपायों का (यो. सू. १-३६-३८) दिग्दर्शन योग-सूत्र में किया गया है और इसमें शक नहीं कि साधक को उनसे बहुत मदद मिल सकती है। लेकिन आखिर में 'यथा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽभिमतध्यानाद्वा' या 'प्रसंग देखकर कार्य करना' यही सिफारिश की गई है। इसीलिए पहले पूर्व-तैयारी का कर्म-योग फिर ध्यान की साधना (यानी उपासना या भक्ति) और आखिर में सांख्य-सिद्धान्त का ज्ञान, परमार्थ के लिए ऐसा क्रम-विविक्ष नहीं है। जिज्ञासु-वृत्ति का मनुष्य पहले सिद्धान्त हल करेगा, और फिर इन सिद्धान्तों को पचाने के लिए ध्यान-योग व कर्म-योग का अनुष्ठान करेगा। आर्त-वृत्ति का मनुष्य पहले साधना की ओर दौड़ेगा, और फिर उस साधना को टिकाये रखने के लिए सांख्य-योग और कर्म-योग का आश्रय लेगा। अर्थार्थी-वृत्ति का मनुष्य पहले पूर्व-तैयारी के कर्म-योग का आचरण करेगा और फिर उस कर्म-योग को सजाने के लिए सांख्य-योग और ध्यान-योग की मदद लेगा। इस प्रकार सांख्य, ध्यान और कर्म, इनमें प्राथमिक भूमिका का चुनाव करने की दृष्टि से तीन मार्ग रहेंगे। इसके अलावा अगली दो भूमिकाओं में पौर्वापर्य से ये तीनों मार्ग द्विविध हो जायंगे, यानी सब मिलकर छः प्रकार हो गये। लेकिन प्रकार कितने ही और कैसे ही हों, फिर भी इन तीनों भूमिकाओं का सम्पूर्ण अनुभव के द्वारा योग किये बिना परमार्थ की सफलता नहीं होती, यह निश्चित जानिये। यह काम अनेक जन्मों का है। इन अनेक जन्मों की ओर ध्यान दें तो हमें साफ मालूम हो जायगा कि सांख्य, ध्यान और कर्म, एक ही योग के तीन अंग हैं। लेकिन सिर्फ मौजूदा जन्म तक ही यदि दृष्टि मर्यादित की जाय तो ये तीनों स्वतन्त्र मार्ग के रूप में दिखाई देंगे। सिद्धान्त और साधना का संवल साथ में लेकर जन्मा हुआ कोई एक 'जनक' इस जन्म में (अव-शिष्ट) कर्म-योग का अनुष्ठान कर कदाचित् कृतार्थ हो सकेगा; और तब इतिहास कहेगा कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'— जनक-जैसों ने कर्म-योग से ही सिद्धि प्राप्त की और उसे देखकर कोई इस सिद्धान्त का भी प्रतिपादन करेंगे कि 'कर्मभिर्निःश्रेयसम्'—कर्म से ही मुक्ति प्राप्त होती है। यह सब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यावहारिक दृष्टि का कथन है। या, जैनियों की भाषा में, यह व्यवहार-नय है। जिस वाक्य में तत्त्व एक खास दृष्टि से बांधे जाते हैं उसे शास्त्रकार 'नय' कहते हैं। गीता ने जिन वाक्यों में मुक्ति के तीन मार्ग बताये हैं, उनमें इह-जन्म-तक ही दृष्टि रखी है, इसलिए वे 'नय' वाक्य हैं।

इसके अलावा सांख्य, ध्यान और कर्म को जीवन की किसी भी 'पूर्ण' क्रिया के तीन आवश्यक अंग मान लेने पर, सांख्य, ध्यान और कर्म 'अंग' के 'पूर्ण' अंग हैं। इसलिए प्रत्येक में फिर सांख्य, ध्यान और कर्म ऐसे तीन उप-विभाग बनेंगे। प्रत्येक उप-विभाग के फिर वैसे ही तीन उप-उप-विभाग, प्रत्येक उप-उप-विभाग के भी।...इस प्रकार के अनन्त 'उप' इस विचार-प्रणाली के पीछे लगनेवाले हैं, परन्तु शास्त्रकारों को सबकी अच्छी व्यवस्था करने का सामर्थ्य था। इसलिए उन्होंने इसी विचार-प्रणाली को मान्यता दी है। जिसने आवर्त दशमलव के सवाल हल कर लिये होंगे, उसके लिए अनन्त का भय मिट-सा जाता है, क्योंकि वह जानता है कि कितनी ही अनन्त आवर्त संख्याओं का योग 'सान्त' बिलकुल ही कम आता है। जैसे, एक बटा दस+एक बटासौ+...इस आवर्त दशमलव का अनन्त तक जोड़ किया जाय तब भी सब मिलकर एक बटा नौ ही आता है। ध्यान-कर्म-सांख्य इनमें से प्रत्येक की, अवांतर ध्यान-कर्म-सांख्य की अनन्त परम्परा मानकर चले हों, फिर भी जान पड़ता है कि शास्त्रकार इस अनन्त का भी अन्त जानते हैं, इसलिए उन्हें इस बात की कोई परवा नहीं रही होगी। अतः आवर्त-दशमलव के समान ही ध्यानादिकों की 'आवर्त'-कल्पना उन्होंने ग्रहण की है। जैसे, आचार्योपासना की गणना भक्ति या ध्यान के शीर्षक के अन्तर्गत भी लायें फिर भी गीता ने सम्पूर्ण 'आचार्योपासना' के (१) प्रणिपात, (२) परिप्रश्न और (३) सेवा, यों तीन अवान्तर विभाग किये हैं (गी. ४-३४)। इनमें से 'सेवा' मुख्यतः शारीरिक या कर्म द्वारा हो सकती है, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसे कर्म-योग में गिना जा सकेगा। वैसे ही, 'प्रणिपात' या नमस्कार को भक्ति-युक्ति ध्यान का प्रतिनिधि माना जा सकता है। 'परिप्रश्न' में चूंकि बौद्धिक तर्क गृहीत हैं, इसलिए इसकी गणना 'सांख्य' में होगी। इस तरह से गीता ने एक ध्यान-योग में ध्यान, कर्म और सांख्य ऐसी तीन मात्राएं बताई हैं। 'परिप्रश्न' के बाद गुरु-मुख से प्राप्त होनेवाली विद्या की गणना स्पष्ट ही ज्ञान-योग या सांख्य की कतार में होगी। लेकिन उपनिषद् ने उसकी भी (१) श्रोतव्य, (२) मन्तव्य, (३) निदिध्यासितव्य, ऐसी तीन मात्राएं दिखाई हैं (बृ. ४-५-६)। इनमें भी श्रोतव्य कर्म-योग, मन्तव्य सांख्य-योग और निदिध्यासितव्य ध्यान-योग कहलायेगा। इस त्रिविध प्रयत्न के द्वारा सम्पूर्ण द्रष्टव्य पल्ले आयें, ऐसी उपनिषदों की योजना है। लेकिन इस द्रष्टव्य के या आत्म-दर्शन के भी (१) आत्मा के द्वारा, (२) आत्मा को, (३) आत्मा में, देखना यों तीन प्रकार हैं और उनका स्पष्टीकरण मैंने गीता के आधार पर इस अध्याय के प्रारम्भ में कर दिया है। मतलब यह कि ध्यान-कर्म-सांख्य स्वभावतः ही अन्योन्य-मिश्र हैं, इसलिए इन्हें एक-दूसरे से बिलकुल अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में ये तीनों स्वतन्त्र साधन हैं या नहीं, इस चर्चा में विशेष अर्थ नहीं है। जिन्हें कर्म-योग के द्वारा मुक्ति पाना आता है, वे अपने कर्म-योग को ज्ञान-मूलक भक्ति-प्रधान विशेषण जोड़ना नहीं भूलते। लेकिन जैसे 'कर्म-योग' को हमेशा ही 'ज्ञान-मूलक+भक्ति-प्रधान' समझना चाहिए, वैसे ही 'ज्ञान-योग को' 'भक्ति-प्रधान+कर्म-प्रेरक' और 'भक्ति-योग' को 'कर्म-प्रेरक+ज्ञान-मूलक' समझना चाहिए, इस तरह का संकेत करने पर इन तीनों योगों में शब्द-भेद के सिवा कोई विशेष महत्त्वपूर्ण भेद ही शेष नहीं रहता। इसलिए यदि कहा जाय कि ये तीनों स्वतन्त्र मार्ग हैं तो उससे क्या बिगड़नेवाला है? उष्णता, गति और प्रकाश तीन स्वतन्त्र तत्त्व हैं यह कहने में किसी तरह की गलती नहीं है; लेकिन जब ये तीनों सूर्य की किरणों में एकत्रित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हैं, तब इनका पृथक्करण करना अशक्य होता है। सूर्य-किरण की गति कहते ही उसमें प्रकाश या उष्णता की कल्पना आ जाती है। पानी की गति में शायद उष्णता की कल्पना नहीं होगी, या बैल की गति में प्रकाश की कल्पना नहीं होगी, लेकिन सूर्य-किरण की गति में दोनों की कल्पना होती है। उसी प्रकार परमार्थ-योग की किरणों में सांख्य-योग का प्रकाश, ध्यान-योग की उष्णता और कर्म-योग की गति, ये तीनों स्वतन्त्र तत्त्व अपनी-अपनी स्वतन्त्रता भूलकर एकत्रित हो गये हैं। सितार के गान में मिले हुए सप्त स्वर अपनी-अपनी स्वतन्त्रता बनाये रखते हैं। सारंगी के गान में मिले हुए सप्त-स्वर स्वतन्त्रता भूलकर एकात्म बने होते हैं। परमार्थ का गान सारंगी के गान के समान है और उसमें मिले हुए सुर भी गान का विध्वंस किये बिना अलग नहीं किये जा सकते। लेकिन यदि किसी सारंगी बजानेवाले से जानकारी लेने के लिए खासतौर से कोई पूछे तो वह बता सकेगा कि सारंगी से कौन-कौन-से सुर किस-किस क्रम से निकले हैं? यानी सुर यद्यपि अपनी स्वतन्त्रता भूले हुए हों, फिर भी उसे खो नहीं बैठते। उसी प्रकार ॐकार चूंकि स्वतन्त्र होकर भी स्वतन्त्रता की भूली हुई तीन मात्राओं से बना है, इसलिए अन्तिम निर्णय यही हो सकेगा कि यों कहें तो सांख्य, ध्यान और कर्म स्वतन्त्र मार्ग हैं और तीनों का मिलकर एक ही मार्ग है। और गीता भी सदा तीन ही मार्ग दिखाती है, सो बात भी नहीं। कभी 'द्विविधा निष्ठा', कभी 'मामेकं शरण व्रज' कभी 'चतुर्विधा भजन्ते मां' ऐसे अनेक नमूने गीता के पास हाज़िर हैं। वेदों में भी—

ज्येष्ठ आह चमसा द्वा करेति।
कनीयान् त्रीन् कृणवामेत्याह ॥
कनिष्ठ आह चतुरस् करेति।

"बड़ा (कारीगर) कहने लगा, (इस प्याले के) हम दो प्याले बनायें, मंझला कहने लगा, तीन बनायें और छोटा कहने लगा कि चार बनाना ही ठीक है"—इन शब्दों में उस अर्थ को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शाया है; लेकिन कारीगर यद्यपि एक के दो, तीन या चार बना सकते हैं, पर यह नहीं भूलना चाहिए कि मूल चीज तो एक ही है।

४

तिपाई तीन पायों पर खड़ी होती है और फिर भी निरे तीन पायों को जैसे-तैसे खड़ा कर देने से वह खड़ी नहीं होगी। तीनों पायों की 'व्यवस्थित' रचना करनी पड़ती है, या त्रिभुज यद्यपि तीन रेखाओं से बनता है, लेकिन उनमें से कोई एक सुरेखा दूसरी दो सुरेखाओं को भारी न पड़े, इस अन्दाज से मेल बैठाये बगैर त्रिकोण तैयार नहीं होता, उसी प्रकार आर्त के ध्यान-योग, जिज्ञासु के सांख्य-योग और अर्थार्थी के कर्म-योग, इन तीनों मात्राओं का व्यवस्थित मेल करानेवाली आधी मात्रा जबतक अनुकूल नहीं होती, तबतक परमार्थ डगमगाता ही रहता है। लेकिन तीनों मात्राओं का अर्थ मिले बिना आधी मात्रा नहीं मिलती, यह बात भी उतनी ही सही है। 'सत्' की उपासना करनेवाले सत्पुरुष और 'तत्' की उपासना करनेवाले तत्पुरुष ऐसा कहें तो इसका अर्थ होगा—सत्पुरुष ही तत्पुरुष हो सकता है। आर्त-जिज्ञासु-अर्थार्थी ये सब सत्पुरुष हैं। लेकिन तत्पुरुष इनसे 'अलग' ही होने के कारण गीता और उपनिषद् में उसे 'अन्य' या 'उत्तम' संज्ञाएं दी गई हैं (कठ. २-८-९; गी. १३-२५; १५-१७)। इस पुरुषोत्तम की या तत्पुरुष की हमें पहचान है—"तत्पुरुषाय विद्महे (नारा. ५)"—यह भाषा सत्पुरुष ही बोल सकते हैं। इसलिए तत्पुरुष-भूमिका प्राप्त करने के लिए सत्पुरुष-भूमिका पर आरूढ़ होना ही वास्तविक उपाय है। सही है कि तिपाई के तीन पाये अव्यवस्थित बैठाये जाने पर तिपाई खड़ी नहीं रह सकती, लेकिन पहले यदि पाये ही तैयार न हों तो फिर निरे 'व्यवस्थितपन' का अर्थ ही क्या होगा? "ध्यान-योग की नौका मजबूत बनाओ, कर्मयोग का डांड़ जोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चलाते रहो, सांख्य-योग की पतवार व्यवस्थित घुमाओ, फिर भी यदि ईश्वरीय कृपा की हवा अनुकूल न हुई तो सिद्धि की आशा व्यर्थ है।" "अहंतेचा वारा न लागो राजसा। माझ्या विष्णुदासा भाविकासी"—अहन्ता की हवा भावुक को न लगे—यह भाषा इसी हेतु से प्रवृत्त हुई है। इसमें से इससे अधिक अर्थ निकालना युक्त न होगा। जितने दृष्टांत हैं, वे सब एक-देशीय होने की स्थिति के कारण, अन-अभिप्रेत अर्थ भी उपर्युक्त भाषा में आ घुसा है। परमार्थ यानी अनिश्चितता के समुद्र पर प्रवास करना नहीं है; लेकिन चूंकि समुद्र के प्रवास का ही दृष्टान्त लिया गया है, इसलिए 'ईश्वरी कृपा की हवा पर' सारी बातें छोड़ दी गई हैं। वस्तुतः नौका की मजबूती, डांड चलाने की 'ताकत' और पतवार घुमाने की 'व्यवस्था' का ठीक प्रमाण ही ईश्वरी कृपा कही जायगी और यही 'तत्'-कार का वास्तविक अर्थ है। 'तत्' चूंकि आधी मात्रा है, इसलिए वह तीनों मात्राओं से स्वतंत्र चौथी मात्रा नहीं है। यह आधी मात्रा विशेषणात्मक है, तीन मात्राएं उसके विशेष्य हैं। तिपाई के तीन पाये व्यवस्थित होने चाहिए, इस कथन में तीन पाये तीन मात्राओं की जगह और 'व्यवस्थित' विशेषण आधी मात्रा की जगह पर है। 'व्यवस्थित' नाम से कोई चौथा पाया नहीं है। ईश्वरी कृपा की 'हवा' की भाषा चकमा देनेवाली है। ईश्वरी कृपा 'हवा' के समान स्थिर है और हम अपने प्रयत्नों के द्वारा जो हवा उत्पन्न करें बस वही 'हवा' है, कम-से-कम परमार्थ के आकाश की ऐसी ही स्थिति है। हवा स्थिर हो, फिर भी मनुष्य यदि दौड़ने लगे तो उसके आस-पास थोड़ी-सी हवा उत्पन्न हो जाती है। वैसे ही नौका जैसे-जैसे पानी काटती जाती है, वैसे-वैसे वह हवा को भी काटती जाती है, इसलिए उसकी गति से पानी के समान की हवा में भी तरंगें उत्पन्न होती हैं। इसे चाहें तो हम अनुकूल हवा कह सकते हैं। इससे भिन्न अर्थवाली अनुकूल या प्रतिकूल हवा पारमार्थिक प्रवास में उपलब्ध नहीं होती। 'समोऽहं सर्व-भूतेषु'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ईश्वरी कृपा का एकमात्र घोषणा-पत्र है। ईश्वरी कृपा मानो आत्म-प्रयत्न से कोई अलग ही वस्तु है, इस आविर्भाव की भाषा बोली जाती है, तब उसका तंतु 'संग-स्मयाऽकरणं पुनरनिष्ट-प्रसंगात्'', (यो. सू. ३-५१)—छोटी-मोटी सिद्धि पर फूल न जाया करो, नहीं तो फिर चक्कर में आ जाओगे—ऐसा खतरे का घंटा बजाना ही है। 'ईश्वर' यानी पूर्णता और ईश्वर की कृपा यानी पूर्णता की प्राप्ति। जबतक पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती, या 'ईश्वर की कृपा' नहीं होती, तबतक छोटी-मोटी सिद्धि के भरोसे रहना प्रगति के पर तोड़ने के समान है। इसलिए आधी मात्रा की या पूर्णता की ओर ध्यान कम न हो, इस हेतु से तीन मात्राओं के प्रति असन्तोष पैदा करना गैरवाजिब नहीं कहा जायगा। इसलिए आधी मात्रा से, लेकिन, तीन मात्राओं का भी महत्त्व समझना जरूरी है। यही नहीं, बल्कि वैदिक ऋषियों ने आधी मात्रा में ही तीन मात्राएं बतलाई हैं। ऋग्वेद के सौर-सूक्त में (ऋ. १—५०—१०)

उद् वयं तमसस् परि। ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यं। अगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

यह एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र आया है। वही मन्त्र 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' के बदले 'स्वः पश्यन्त उत्तरम्' फर्क के साथ यजुर्वेद में चार जगह आया है और उपनिषदों में (छां. ३—१७—७) इन दोनों प्रकार के चरण इकट्ठा कर पांच चरणों का मन्त्र दिया है। इस मन्त्र में 'उत्', 'उत्तर' और 'उत्तम' इस प्रकार पूर्णता की या आधी मात्रा की सीढ़ियां बताई गई हैं। "अज्ञान के दूसरे किनारे पर दिव्य तेजवाले उषःकाल ('उत्') सूर्योदय ('उत्तर') और मध्याह्न ('उत्तम') इन तीनों के दर्शन हमें हुए," इस प्रकार कृत्यकृत्यता के उद्गार ऋषियों ने इस मन्त्र में व्यक्त किये हैं। सूर्य-प्रकाश के ऊपर रहने की संस्कृत में 'उदय' अथवा 'उत्-अय' संज्ञा है, अतः उषःकाल से मध्याह्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक के चढ़ते हुए प्रकाश की 'उत्,' 'उत्-तर' और 'उत्-तम,' ऐसी तीन अवस्थाएं सहज ही होती हैं। गीता में भी कहा गया है कि सत्पुरुष का 'आदित्य-वत् ज्ञान' दूसरे किनारे पर के 'तत्' को प्रकाशित करता है—'प्रकाशयति तत् परम्' और ऊपर के मन्त्र में उसी 'तत् सवितुर्वरेण्यं' या 'अज्ञान के दूसरे किनारे पर के दिव्य तेज' के तर-तम-भाव से तीन अनुभव प्रकट किये हैं। "तत् बुद्धयस्तदात्मानस् तन्निष्ठास्तत्परायणाः" इस प्रकार से 'सत्'-पुरुष 'तत्'–पर होने पर उसे 'उत्'-पुरुष की संज्ञा प्राप्त होती है। यह तत्पुरुष की प्राथमिक भूमिका है। "तस्य उत् इति नाम (छां. १६–७)" ऐसे इस उत्-पुरुष का स्पष्ट उल्लेख उपनिषदों में है और उसीको गीता में उदासीन कहा है। निर्गुण आधी मात्रा का यह 'मूळारम्भ' है। उत्-पुरुष, उत्तर-पुरुष और उत्तम-पुरुष, ये तत्पुरुषों की तीन ऊपर चढ़ती हुई कमानियां हैं। उत्तम-पुरुष 'आधी मात्रा' का अन्त 'माना गया' है। 'माना गया' कहने का कारण स्पष्ट ही है। जब एक बार तर-तम-भाव गृहीत किया जाता है तब यह नहीं कहा जा सकता कि इस तर-तम-भाव का अमुक जगह पर अन्त होता है। उत्तम के भी उत्तम, उत्तम-तर, उत्तमतम ऐसे असीम विभाग हो सकेंगे और यदि अनन्त ब्रह्म इस श्रुति-वचन की ओर ध्यान दें तो उपनिषदों का आशय भी यही है, इसमें शंका नहीं रहती। लेकिन सुविधा की दृष्टि से कहीं-न-कहीं विश्राम करना ज़रूरी है, इसलिए उत्तम पुरुष ही अन्तिम भूमिका निर्धारित की गई है। भगवान् बुद्ध ने धम्म-पद के 'अरहन्त-वग्ग' में इस उत्तम पुरुष का बड़ा चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है :

अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
हतावकासो वन्तासो स वे उत्तम-पोरिसो॥

—"श्रद्धा-हीन, अकृतज्ञ, कलहोत्पादक, अप्रासंगिक और वमन-भक्षक को ही उत्तम-पुरुष या अर्हत् समझना चाहिए—यों नाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के घर की उलटी ही पहचान है। सारांश में, तीन मात्राओं के बाहर आधी मात्रा और आधी मात्रा के भीतर तीन मात्राएं ऐसी व्यवस्था होने के कारण 'तीन मात्राएं बनाम आधी-मात्रा' का विवाद अप्रस्तुत है। अविरोध किंवा शान्ति यही जीवन का एक-मात्र बीज मन्त्र है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

R. T. C. Gurukula K. Library

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा विनोबा साहित्य

१. शांतियात्रा
२. विनोबा के विचार (दो भाग)
३. जीवन और शिक्षण
४. ईशावास्यवृत्ति
५. ईशावास्योपनिषद्
६. स्थितप्रज्ञ-दर्शन
७. विचार-पोथी
८. उपनिषदों का अध्ययन
९. गांधीजी को श्रद्धांजलि
१०. सर्वोदय का घोषणा-पत्र
११. राजघाट की संनिधि में
१२. भूदान-यज्ञ
१३. स्वराज्य-शास्त्र
१४. सर्वोदय-सन्देश
१५. सर्वोदय-विचार

सस्ता साहित्य मण्डल

एक रुपया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar